श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[योगोपयोगमार्गणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेरक

श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्यश्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

प्रकाशकीय

जनदर्शन का मर्म समझना हो तो कर्मसिद्धान्त को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तार पूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्य-कार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३९ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—'मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो।' उस समय [illegible] सामान्य लग रही थी, किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् पुखराज जी ज्ञानचंद जी मुणोत मु० रणसीगाँव, हाल मुकाम ताम्बवरम् ने इस प्रकाशन में पूर्ण अर्थ-सहयोग प्रदान किया है, आपके अनुकरणीय सहयोग के प्रति हम सदा आभारी रहेंगे।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री
आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान
जोधपुर

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्धदशा में ससार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कम्मं च जाई मरणस्स मूलं। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी सस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे।

—सुकनमुनि

प्राक्कथन

आस्तिक माने जाने वाले सभी मानवों, चिन्तकों और दर्शनों ने इहलोक-परलोक और उसके कारण रूप में कर्म एवं कर्मफल का विचार किया है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना और समझना चाहता है कि वह जो कुछ भी करता है, उसका क्या फल है? इसी अनुभव के आधार पर वह यह निश्चित करता है कि किस फल के लिये कौन-सा कार्य करणीय है। यही कारण है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर अर्वाचीन समय तक का समस्त सम्प्रदायिक और धार्मिक चिन्तन किसी-न-किसी रूप में कर्म और कर्मफल को अपना विचार-विषय बनाता आ रहा है।

कर्म और कर्मफल के चिन्तन के सम्बन्ध में हम दो दृष्टि देखते हैं। कुछ चिन्तक यह मानते हैं कि मृत्यु के अनन्तर जन्मान्तर हैं, दृश्यमान इहलोक के अलावा अन्य श्रेष्ठ, कनिष्ठ लोक हैं, पुनर्जन्म है और इस पुनर्जन्म एवं परलोक के कारण के रूप में कर्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसके लिये वे युक्ति एवं प्रमाण देते हैं कि यदि कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट नहीं सकता है। अतएव जब हम पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, तब उसके कारण रूप में कर्मतत्त्व को मानना आवश्यक है।

वे मानते हैं कि पंचभूतात्मक शरीर से भिन्न किन्तु उसमें विद्यमान एक अन्य तत्त्व जीव/आत्मा है, जो अनादि-अनन्त है। अनादिकालीन संसारयात्रा के बीच किसी विशेष भौतिक शरीर को वह धारण करता और त्यागता रहता है। जन्म-जन्मान्तर की चक्र-प्रवृत्ति का उच्छेद शक्य नहीं है, किन्तु अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है तो उसकी प्राप्ति का साधन धर्म करणीय, आचरणीय है। इस मत के अनुसार अधर्म-पाप हेय और धर्म-पुण्य उपादेय है।

इस चिन्तकवर्ग ने धर्म, अर्थ और काम, इन तीन को पुरुषार्थ रूप में स्वीकार किया। जिससे यह वर्ग त्रिपुरुषार्थवादी अथवा प्रवर्तकधर्मवादी के

रूप में प्रख्यात हुआ। इस वर्ग ने बहुजन-सम्मत न्याय-नीतियुक्त सामाजिक व्यवस्था एवं शिष्ट आचरण को धर्म तथा निन्द्य आचरण को अधर्म कहा एवं सामाजिक सुव्यवस्था ही कर्मफल के रूप में निश्चित की।

वर्तमान में प्रसिद्ध ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लेकिन पूर्वोक्त दृष्टिकोण से आंशिक रूप से सहमत होते हुए भी कुछ अन्य विशेष प्रतिभाशाली चिन्तक ऐसे भी रहे हैं जिनकी मान्यता है कि श्रेष्ठ लोक (स्वर्ग) प्राप्त कर लेने में ही जीव के पुरुषार्थ की चरम परिणति नहीं है। चरम परिणति तो तब कहलायेगी जब जीव अपने को सर्वतः शुद्ध कर इस जन्म-मरण रूप संसार से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त होकर सत्-चित्-आनन्दघनरूप स्थिति को प्राप्त कर ले। ऐसी स्थिति, मुक्ति व सिद्धि प्राप्त कर लेना ही जीवमात्र का पुरुषार्थ है। इस प्रकार की मान्यता को स्वीकार करने वाले चिन्तन की निवर्तकवादी यह संज्ञा है।

इस निवर्तकवादी चिन्तन ने पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष को परमोच्च स्थान दिया और एतदर्थ उसने अपनी समस्त क्रियाओं को नियोजित किया। किन्तु इसके चिन्तक वर्ग में अनेक पक्ष प्रचलित थे। जिनका तीन प्रकारों में वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी, (३) प्रधान-छाया-पन्न परमाणुवादी।

इन तीनों में से परमाणुवादी पक्ष यद्यपि मोक्ष का समर्थक है, किन्तु प्रवर्तक धर्म का उतना विरोधी नहीं, जितने उत्तर के दो पक्ष हैं। यह पक्ष न्याय-वैशेषिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा प्रधानवादी पक्ष आत्यन्तिक कर्म-निवृत्ति का समर्थक है। यह पक्ष सांख्य-योग के नाम से प्रख्यात हुआ। यह प्रवर्तक धर्म-श्रौत-स्मार्त को हेय बताता है। आगे चलकर इसी के तत्त्वज्ञान की भूमिका पर वेदान्तदर्शन तथा संन्यासमार्ग की स्थापना हुई। तीसरा पक्ष प्रधान-छायापन्न परमाणुवादी अर्थात् परिणामी परमाणुवादी दूसरे पक्ष की तरह ही प्रवर्तक धर्म का विरोधी है। इस पक्ष का नाम जैन अथवा निर्ग्रन्थ दर्शन है।

बौद्ध दर्शन भी प्रवर्तक धर्म का विरोधी है, किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं बल्कि दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का उत्तरवर्ती विकास है।

उक्त पक्ष या वर्ग भेद वादों की स्वभावमूलक उग्रता-मृदुता एवं कतिपय अंशों में तत्त्वज्ञान की अपनी-अपनी प्रक्रिया पर अवलम्बित है। फिर भी इस लक्ष्य के प्रति सर्वात्मना मतैक्य रहा कि जीव अपनी मौलिक अवस्था को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो, पुनः संसारदशा को प्राप्त न करे।

उपर्युक्त अंकन से यह तो अवगत हो चुका है कि आस्तिकवादी चिन्तकों की प्रवर्तक और निवर्तक धाराओं ने कर्म के बारे में विचार किया है। लेकिन प्रवर्तकधारा एक निश्चित परिधि से आगे नहीं बढ़ी, शुभ कर्म और उसके फलभोग तक केन्द्रित रही। जिससे वह जीव को उसकी असीम और शुद्ध शक्ति का बोध नहीं करा सकी। लेकिन निवर्तकधारा ने स्पष्ट घोषणा की कि जीव का संसार में भ्रमण करते रहना विडम्बना है। इस विडम्बनापूर्ण स्थिति के प्रति समर्पित रहने में जीव के पुरुषार्थ का प्रांजल रूप प्रगट नहीं होता है। वह तो तभी प्रगट होगा जब मुक्त, सिद्ध, बुद्ध होगा, समस्त दुःखों का अन्त करेगा। समस्त दुःखों का अन्त तभी हो सकेगा जब उसके कारण का क्षय होगा और वे कारण हैं कर्म।

जब निवर्तकधारा परम पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष और उसके प्रतिबंधक कारण के रूप में कर्म को स्वीकार कर चुकी तब इसको मानने वाले जितने भी चिन्तक थे, उन्होंने मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों एवं प्रतिबंधक कारण कर्मतत्त्व के विषय में विचार किया। यह विचार करना कर्म और उसके भेदों की परिभाषायें कर देने तक सीमित नहीं रहा, किन्तु कार्यकारण की दृष्टि से कर्मतत्त्व का विविध प्रकार से वर्गीकरण किया। कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया। विपाक की कालमर्यादा का चिन्तन किया। कर्मभेदों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया। इस प्रकार निवर्तकधारा में व्यवस्थित एवं बृहद्रमाण में कर्म विषयक साहित्य निर्मित हो गया और उत्तरोत्तर नये-नये प्रश्नों और उनके समाधान के द्वारा उसकी वृद्धि होती रही।

प्रारम्भ में तो यह प्रवृत्ति व्यवस्थित रूप से चली। जब तक इन सबका

ध्येय प्रवर्तकधर्म का खण्डन करना रहा, तब तक उनमें पारस्परिक विचार-विनिमय भी होता रहा और एकवाक्यता भी बनी रही। लेकिन उसके बाद ऐसा समय आ गया जब निवर्तकवादियों में पहले जैसी निकटता नहीं रही। प्रत्येक दल अपने-अपने दृष्टिकोण एवं तत्त्वज्ञान की भूमिका के आधार से विचार करने लगा। परिणामतः परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि में शब्दशः और अर्थशः बहुत कुछ साम्य होते हुए भी विभिन्नतायें बढ़ती गईं। जिनका संक्षेप में यहाँ संकेत करते हैं।

कर्म के बंधक कारणों और उनके उच्छेदक उपायों के बारे में तो सभी निवर्तकवादी समान रूप में गौण-मुख्य भाव से सहमत हैं, किन्तु कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में मतैक्य नहीं रहा। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि ने कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म तथा प्रधानवादी सांख्य-योग ने उसे अन्तःकरण (मन) निष्ठ मानकर जड़धर्म बताया, परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी मानने वाले जैन ने अपनी चिन्तनशैली के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय परिणाम से उभय रूप माना। जिसके भावकर्म और द्रव्यकर्म यह अपर नाम हैं।

इसके साथ ही अन्य निवर्तकवादी अन्यान्य विषयों के चिन्तन की ओर प्रवृत्त हो गये, लेकिन जैन चिन्तकों ने कर्मतत्त्व को अपने चिन्तन में प्रमुख एवं प्रथम स्थान दिया। कर्मसिद्धान्त जैनदर्शन का प्राण है। जैन कर्मसिद्धान्त में यह चिन्तन गम्भीरता और विस्तार से किया गया है कि विश्व के मूल तत्त्व क्या हैं और उनमें किस प्रकार के विपरिवर्तनों द्वारा प्रकृति और जीव में कैसी विषमतायें एवं विचित्रतायें उत्पन्न होती हैं। प्रकृति जड़ है और जीव चेतन, इसीलिये यह स्वीकार किया कि विश्व के मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव अथवा चेतन और जड़। निर्जीव अवस्था में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सब एक ही जड़ तत्त्व के रूपान्तर हैं। जिसे जैनदर्शन में पुद्गल कहा है। आकाश और काल भी जड़तत्त्व हैं, किन्तु वे पृथ्वी आदि के समान मूर्त नहीं अमूर्त हैं। जीव/आत्मा इनसे पृथक् तत्त्व है और उसका लक्षण चेतना है। वह स्वयं की सत्ता का अनुभव करता है और परपदार्थों का भी ज्ञायक

है। उसकी इस द्विविधवृत्ति को दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग कहा है। जीव अपने मूल स्वभाव से अमूर्त है, परन्तु दैहिकावस्था में रागद्वेषात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों द्वारा सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आन्तरिक संस्कारों को उत्पन्न करता है। जिन सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, उन्हें जैनदर्शन में कर्म कहा है। आत्मप्रदेशों में उनके आ मिलने की प्रक्रिया का नाम आस्रव है और इस मेल के द्वारा जीव में स्वरूपविषयक जो विकृतियां आदि उत्पन्न होती हैं, उनका नाम बंध है। कर्म और उसके बंध की इसी प्रक्रिया को समझाना जैन कर्मसिद्धान्त का अभिधेय है।

जैन कर्मसिद्धान्त ने क्रमबद्ध रूप से अपने अभिधेय की प्ररूपणा की है। अथ से लेकर इति तक उठने वाले सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान किया है। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सयुक्तिक है, किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं है। कुछ एक प्रश्न इस प्रकार हैं—

कर्म क्या है? कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है? इसके कारण क्या हैं? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है? आत्मा के साथ कर्म कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने समय तक लगा रहता है? संबद्ध कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहते हैं? कर्म का विपाकसमय बदला भी जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक हैं? कर्म की शक्ति को तीव्रता और मंदता में रूपान्तरित करने वाले कौन-से आत्मपरिणाम कारण होते हैं? किस कर्म का विपाक किस अवस्था तक नियत और किस अवस्था में अनियत है? इसी प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों का सयुक्तिक विस्तृत और विशद विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त एवं साहित्य में किया गया है।

जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त का जिस क्रम से निरूपण किया गया है, उससे यह मानना पड़ता है कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान पार्श्वनाथ से भी पूर्व स्थिर हो चुकी थी और वह अग्रायणीयपूर्व तथा कर्मप्रवादपूर्व के नाम से विश्रुत हुई। दुर्भाग्य से पूर्व ग्रन्थ कालक्रम से विनष्ट हो गये, किन्तु

उन्हीं के आधार से पश्चाद्वर्ती समय में विभिन्न आचार्यों ने कर्मसिद्धान्त विवेचक ग्रन्थों की रचना की, जिनको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आकर कर्मशास्त्र, (२) प्राकरणिक कर्मशास्त्र ।

आकर कर्मशास्त्रों की रचना पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का आधार लेकर की गई है। भगवान महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास के रूप में पूर्वविद्या का अस्तित्व रहा और तत्पश्चात् ऐसा समय आ गया जब पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश विद्यमान न रहने पर आकर ग्रन्थों की रचना होना प्रारम्भ हो गया । यह आकर विभाग पूर्वात्मक कर्मशास्त्र से यद्यपि छोटा है, फिर भी वर्तमान अभ्यासियों के लिये समझने और पढ़ने के लिये पर्याप्त है । इसमें कहीं-कहीं शृंखला खंडित हो जाने पर भी कुछ-न-कुछ पूर्व से उद्धृत अंश सुरक्षित है ।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र में कर्मविषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित हैं । जिनका आकर ग्रन्थों में प्रवेश करने की दृष्टि से महत्त्व है। इस लाघव से पाठकों को कर्मशास्त्र के अभ्यास में सरलता अवश्य हो गई पर समग्र शास्त्र का पूर्वापर सम्पर्कसूत्र खण्डित हो गया और ऊपरी तौर पर कर्मसिद्धान्त के स्थूल अंशों का ज्ञान करना पर्याप्त समझ लिया गया । इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मसिद्धान्त के अध्ययन-अध्यापन में व्यवधान आया और दुरुह समझ कर उपेक्षणीय दृष्टि से देखा जाने लगा । जबकि कर्मशास्त्र का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाये तो उससे सुगम अन्य कोई शास्त्र नहीं है ।

वर्तमान में अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति को वेग मिलने से शिक्षित वर्ग में साहित्य के सभी अंगों और विद्याओं को जानने की उत्सुकता बढ़ी है। साहित्यिक अनुसंधान कार्य में सैकड़ों शिक्षाशास्त्री संलग्न हैं । इसी सन्दर्भ में जैन कर्म-साहित्य पर भी विद्वानों की दृष्टि गई है । जिससे कर्मसिद्धान्त के विवेचक प्रौढ़ ग्रन्थ प्रकाश में आये और उनका अध्ययन करने वालों का भी एक अच्छा विद्वत-मंडल बनता जा रहा है । इसके अतिरिक्त दर्शनान्तरगत कर्मविवेचन के साथ जैन कर्ममन्तव्य की तुलना के लिये अनुशीलन कार्य भी हो रहे हैं ।

इस प्रकार से भूमिकाके रूप में कर्मविषयक कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब ग्रन्थ का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करते हैं।

ग्रन्थपरिचय

यह 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ कर्मसिद्धान्त विवेचक एक विशिष्ट रचना हैं। इसके रचयिता आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर हैं। आपश्री ने विलुप्त पूर्वसाहित्य का आधार लेकर इसको निबद्ध किया है। भाषा प्राकृत है तथा गाथा संख्या १००५ है तथा वर्ण्यविषय को स्पष्ट करने के लिये स्वोपज्ञवृत्ति भी स्वयं ग्रन्थकार आचार्य द्वारा लिखी गई है। जिसका प्रमाण लगभग नौ से दस हजार श्लोक है तथा आचार्य मलयगिरि ने करीब अठारह हजार श्लोकप्रमाण की संस्कृत टीका रची है।

उक्त दो वृत्तियों और मूल ग्रन्थ के प्रमाण से ग्रन्थ की गम्भीरता एवं विशालता सहज ही ज्ञात हो जाती है। आचार्यप्रवर ने इस ग्रन्थ की रचना स्व प्रशंसा, प्रख्याति के लिये नहीं, किन्तु एक लक्ष्य की पूर्ति के लिये की है। उन्होंने अनुभव किया कि उत्तरोत्तर पूर्वज्ञान के अध्येताओं के कालकवलित होते जाने से पूर्वगत वर्ण्य विषयों का खंड-खंड में विभक्त आंशिक भाग शेष रह गया है और वह भी अब शेषप्रायः होने जा रहा है। यदि इन अवशिष्ट खंडों को लिपिबद्ध कर दिया जाये तो मुमुक्षु पाठकों को लाभप्रद होगा। यही कारण है कि आचार्यप्रवर ने ग्रन्थ में कहीं भी अपने परिचय के लिये दो शब्द नहीं लिखे हैं। मात्र स्वोपज्ञवृत्ति की अन्तिम प्रशस्ति में इतना संकेत किया है—'पार्श्वर्षि के शिष्य चन्द्रर्षि नामक साधु द्वारा।' ग्रंथ की विशालता को देखकर जहाँ उनके अगाध पांडित्य के प्रति प्रमोदभाव की सहस्रमुखी वृद्धि होती है, वहीं उनकी निरभिमानता एवं विनम्रता श्रद्धावनत होने के लिये प्रेरित करती है।

आचार्यश्री ने (१) शतक, (२) सप्ततिका, (३) कषायप्राभृत, (४) सत्-कर्मप्राभृत और (५) कर्मप्रकृति इन पांच ग्रंथों के विषयों का संग्रह करने के साथ-साथ (१) योगोपयोगमार्गणा, (२) बंधक, (३) बंधव्य, (४) बंध-

हेतु, (५) बंधविधि, इन पांच द्वारों का वर्णन किये जाने से ग्रंथ का 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नामकरण किया है। ग्रंथ में जिन पांच ग्रंथों अथवा प्रकरणों का संग्रह है, उनमें से एकाध को छोड़कर प्रायः सभी ग्रंथों, प्रकरणों के रचयिताओं के नामादि अभी तक अज्ञात हैं।

दिगम्बर जैन साहित्य-परम्परा में भी पंचसंग्रह नाम वाले निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

(१) प्राकृत पंचसंग्रह, (२) संस्कृत पंचसंग्रह (प्रथम), (३) संस्कृत पंचसंग्रह (द्वितीय), (४) प्राकृत पंचसंग्रह टीका, (५) प्राकृत पंचसंग्रह मूल और प्राकृत वृत्ति। इनमें से प्रथम ग्रंथ के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। शेष के क्रमशः कर्ता आचार्य अमितगति, श्रीपाल सुत श्री डड्ढा, श्री सुमतिकीर्ति और श्री पद्मनन्दि हैं।

इन सभी में कर्मसिद्धान्त के आधारभूत बंध, बंधक आदि विषयों का वर्णन किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि दोनों जैन परम्पराओं के आचार्यों ने अपने समय में उपलब्ध कषायप्राभृत आदि ग्रंथों का आधार लेकर अपने ग्रंथों की रचना की और प्राचीन ग्रंथों का सार संकलित होने से पंचसंग्रह यह नामकरण किया और स्पष्टीकरण के लिये टीका-टिप्पण एवं चूर्णियों को लिखा।

ग्रंथ के सम्बन्ध में उक्त संक्षिप्त संकेत पर्याप्त है। उपलब्ध समस्त पंचसंग्रह नामक ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन अनुसन्धान का विषय होने से यहाँ कुछ भी प्रकाश नहीं डाल रहे हैं और यदि एतद्विषयक कुछ उल्लेख कर भी दिया जाता तब भी ग्रंथ का गौरव वही रहता जैसा अभी है। अतएव अब योगोपयोगमार्गणा अधिकार के अधिकृत वर्णन का सारांश प्रस्तुत करते हैं।

विषयप्रवेश

भूमिका के रूप में ग्रन्थकार आचार्यश्री ने मंगलमय महापुरुषों के पुण्य-स्मरणपूर्वक ग्रन्थ के नाम और नामकरण के कारण को स्पष्ट करके प्रकरण के प्रतिपाद्य योग और उपयोग के स्वरूप और उनके भेदों का निर्देश किया है।

तत्पश्चात् इनकी जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के क्रम से मार्गणा-गवेषणा की है। इसी सन्दर्भ में जीवस्थानों आदि के भेदों की विस्तृत व्याख्या की है।

इस दृष्टि से इस प्रकरण के मुख्य तीन विभाग हैं—(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान और (३) गुणस्थान, जिनमें संसारी जीवों की आन्तरिक और बाह्य सभी स्थितियों का विवरण स्पष्ट हो जाता है। जीवस्थान शारीरिक विकास और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता के बोधक हैं। मार्गणास्थान में जीव की स्वाभाविक-वैभाविक दशाओं का वर्णन है तथा गुणस्थान आत्मा के उत्तरोत्तर विकास की दर्शक भूमिकायें हैं। जीवस्थान कर्मजन्य होने से हेय ही हैं और मार्गणास्थानों में जो अस्वाभाविक हैं, वे भी हेय हैं, किन्तु गुणस्थान विकास की श्रेणियां होने से ज्ञेय एवं उपादेय हैं। इनके द्वारा यह ज्ञात होता है कि इस स्थिति में वर्तमान जीव ने विकास की किस भूमिका पर आरोहण कर लिया है और विकासोन्मुखी आत्मा आगे किस अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होगी।

जीवस्थानों आदि में अमुक योग और उपयोग क्यों होते हैं? इस प्रश्न का सयुक्तिक समाधान किया है। इसके सिवाय यथाप्रसंग विषय से सम्बन्धित मतान्तरों का भी उल्लेख किया गया है। जिनमें से कतिपय सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक हैं और कुछ का अन्य आचार्यों से सम्बन्ध है। इसके साथ ही मार्गणास्थान के बासठ भेदों में चौदह जीवस्थानों तथा गुणस्थानों की सम्भवता का अन्वेषण कर अधिकार को समाप्त किया है।

गाथानुसार उक्त वर्णन का क्रम इस प्रकार है—गाथा ६ से ८ तक चौदह जीवस्थानों में योगों और उपयोगों का, गाथा ९ से १५ तक बासठ मार्गणा भेदों में योगों और उपयोगों का, तत्पश्चात् गाथा १६ से २० तक गुणस्थानों में योगों और उपयोगों का विचार करके गाथा २१ से ३४ तक बासठ मार्गणास्थानो में सम्भव जीवस्थानों तथा गुणस्थानों का निरूपण किया गया है। अन्त में अधिकार समाप्ति का और द्वितीय बंधक अधिकार का विवेचन प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

आशा है उक्त संक्षिप्त भूमिका के आधार पर पाठक ग्रन्थ का प्रकरणानुसार यथाक्रम से अध्ययन-स्वाध्याय करेंगे। जिससे उन्हें जैन कर्मसिद्धान्त की विशेषताओं का ज्ञान होगा तथा उनकी स्वाध्याय प्रवृत्ति में सहयोगी बनने से मुझे मानसिक आह्लाद एवं आत्मिक सन्तोष प्राप्त होगा। इसी विश्वास के साथ अब विराम लेता हूँ।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर ३३४००१

—देवकुमार जैन
सम्पादक

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भांति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज !

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेज-स्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएं व्यापक बनती गई, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएं बनकर गांव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अंतिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा । उनके जीवन-सागर की गहराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे। उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है । महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशेः

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उछालें खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियां सामने दीखतीं जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं।

जीवन रेखाएं

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० सं० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर में हुआ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास बनते-बनते बच गये।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई। उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग

पड़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १६७५, माघ वदी ७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं. १६७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षा-रत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं. १६८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानांगसूत्र-वर्णित चार शिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि. सं. १६६३, लोंकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरु-धरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर टूटती कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत् श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्यसम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़ कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसंघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकड़ों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के सान्निध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा है।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आप श्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोंकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और सेमा देदराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुंच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते। यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधरा के उस महान संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शव-यात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने ट्रेक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे। इस प्रकार उस महा-पुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा, उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षि महत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख हैं।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित करवाया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैःकंथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—चरैवैति-चरैवैति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया :

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थ कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते ।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषयानुक्रमणिका

गाथा १	३–८
सर्व विघ्नोपशांति के लिए मंगलाचरण	३
मंगल पदों की व्याख्या	४
पद सार्थक्य	६
ग्रन्थ रचना का प्रयोजन	८
गाथा २	८–१०
ग्रन्थ के नामकरण की दृष्टि	८
गाथा ३	१०–१५
पांच द्वारों के नाम	१०
पांच अर्थाधिकारों के लक्षण	११
गाथा ४	१६–३०
योग के भेद	१६
मनोयोग के भेदों के लक्षण	१७
वचनयोग के भेदों के लक्षण	२०
काययोग के भेदों के लक्षण	२१
योगों का क्रमविन्यास	२९
गाथा ५	३०–४६
उपयोग विचारणा	३०
ज्ञानोपयोग के भेद	३३
दर्शनोपयोग के भेदों के लक्षण	३९
उपयोगों का क्रमविन्यास	४१
जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के लक्षण	४२

गाथा ६ ४६–६४

जीवस्थानों में योग-प्ररूपणा ४६
जीवस्थान के भेदों का आधार ४७
एकेन्द्रियों के सूक्ष्म, बादर भेद का कारण ५०
पंचेन्द्रियों में संज्ञी, असंज्ञी भेद मानने का कारण ५१
पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या ५३
जीवस्थानों में योग ६२

गाथा ७ ६५–७२

नौ जीवस्थानों में योग का वर्णन ६५
मतान्तर से जीवस्थानों में योग ६८

गाथा ८ ७२–८२

जीवस्थानों में उपयोग ७२

गाथा ९, १०, ११, १२ ८२–११०

मार्गणा के भेद ८४
मार्गणाओं में योग ९१
प्रत्येक मार्गणाओं में सम्भव योग ९९

गाथा १३, १४ ११०–११४

मार्गणास्थानों में उपयोग ११०

गाथा १५ ११४–१२८

शेष मार्गणाओं में उपयोग वर्णन ११४
मार्गणाओं में योग-उपयोगों की तालिका १२२

गाथा १६, १७, १८ १२९–१५७

गुणस्थानों में योग विचारणा १२९
गुणस्थानों के भेद १३०
गुणस्थानों का स्वरूप १३६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गुणस्थानों का कालप्रमाण १५१
गुणस्थानों में योग १५२
गाथा १६, २० १५७–१६२
गुणस्थानों में उपयोग १५७
गाथा २१ १६२–१६४
मार्गणास्थानों के नाम व भेद १६२
गाथा २२ १६४–१६६
मार्गणास्थानों में जीवस्थान १६४
गाथा २३ १६७–१७०
काय और योग मार्गणा के भेदों में जीवस्थान १६७
गाथा २४ १७०–१७१
पांच मार्गणाओं के भेदों में जीवस्थान १७०
गाथा २५ १७१–१७७
मार्गणा के भेदों में जीवस्थान १७५
गाथा २६ १७८–१७६
ज्ञानादि मार्गणाओं में जीवस्थान १७८
गाथा २७ १८०–१८५
ज्ञान और दर्शन मार्गणा के अवान्तर भेदों में जीवस्थान १८०
गाथा २८ १८५–१८७
मार्गणास्थानों में गुणस्थान १८५
गाथा २६ १८८–
काय आदि मार्गणाओं में गुणस्थान १८८
गाथा ३० १८६–१६०
वेद, कषाय, लेश्या मार्गणाओं में गुणस्थान १८६

गाथा ३१ १९०–१९८

लेश्या मार्गणा का विशेष स्पष्टीकरण से वर्णन १९०

गाथा ३२ १९८–२००

भव्य और संज्ञी मार्गणा में गुणस्थान १९९

गाथा ३३ २००–२०२

वेदक, क्षायिक और उपशम सम्यग्दृष्टि मार्गणाओं में गुणस्थान २०१

गाथा ३४ २०२–२०४

आहारक मार्गणा में गुणस्थान, ग्रन्थ का उपसंहार और बंधक अधिकार के कथन का सूचन २०२

परिशिष्ट १—६८

१. योगोपयोग मार्गणा-अधिकार की मूल गाथाएँ १

२. (१) दिगम्बर साहित्य में अपेक्षाभेद से जीवस्थानों के भेदों का वर्णन ४

(२) संज्ञी-असंज्ञी सम्बन्धी विशेषावश्यक भाष्यगत विवेचन १२

(३) प्रज्ञापनासूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्ति सम्बन्धी वर्णन १५

(४-५) दिगम्बर कर्मसाहित्य में जीवस्थानों में योग-उपयोग का निर्देश १९

(६) सामायिक आदि पांच चारित्रों का परिचय २२

(७) औपशमिक सम्यक्त्व-प्राप्ति विषयक प्रक्रिया का सारांश २८

(८) दिगम्बर कर्मग्रन्थिकों का मार्गणास्थानों में योग का कथन ३२

(९) दिगम्बर कर्मसाहित्य में मार्गणास्थानों में उपयोग-विचार ३५

(१०) अपूर्वकरण गुणस्थान में उत्तरोत्तर अपूर्व स्थिति बंध एवं अध्यवसाय-वृद्धि का विवेचन ३८
(११) केवलि-समुद्घात सम्बन्धी प्रक्रिया ४२
(१२) दिगम्बर साहित्य में गुणस्थानों में योग-उपयोग निर्देश ५२
(१३) दिगम्बर कर्मग्रन्थों में वर्णित मार्गणास्थानों में जीव-स्थान ५४
(१४) दिगम्बर साहित्य में निर्दिष्ट मार्गणास्थानों में गुणस्थान ५७

तालिकाएँ :

चतुर्दश गुणस्थानों में योगों का प्रारूप ६०
चतुर्दश गुणस्थानों में उपयोगों का प्रारूप ६१
मार्गणाओं में जीवस्थानों का प्रारूप ६२–६४
विशेष (स्पष्टीकरण) ६५
मार्गणाओं में गुणस्थानों का प्रारूप ६६–६८
गाथाओं की अकारादि अनुक्रमणिका ६९

□ □

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचन युक्त)

योगोपयोगमार्गणा अधिकार १

उत्थानिका

शिष्ट जन इष्ट देव के नमस्कारपूर्वक ही अभीप्सित कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, अथवा मंगलवाचक शब्दों के उच्चारणपूर्वक कार्य प्रारम्भ करते हैं। अतः आचार्यप्रवर भी शिष्टजनसम्मत परम्परा का अनुसरण करते हुए विघ्नोपशांति के लिए सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हैं—

नमिऊण जिणं वीरं सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं।
वोच्छामि पंचसंगहमेय महत्थं जहत्थं च ॥१॥

शब्दार्थ—**नमिऊण**—नमस्कार करके, **जिणं**—जिन, **वीरं**—वीर को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक, **दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं**—दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश करने वाले, **वोच्छामि**—कहूँगा, **पंचसंगहं**—पंचसंग्रह को, **एय**—इस, **च**—और, **महत्थं**—महान अर्थ वाले, **जहत्थं**—यथार्थ।

गाथार्थ—दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश करने वाले जिन भगवान् महावीर को सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक नमस्कार करके महान अर्थ वाले इस 'पंचसंग्रह' नामक ग्रन्थ को यथार्थ रूप में कहूँगा।

विशेषार्थ—आचार्यप्रवर ने गाथा में इष्ट देव के रूप में वीर जिनेश्वर को नमस्कार करते हुए ग्रन्थ का नामोल्लेख और उसका माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

मंगलाचरण के दो प्रकार हैं—निबद्ध और अनिबद्ध, अथवा व्यक्त और अव्यक्त। निबद्ध और व्यक्त मगल वचनरूप और अनिबद्ध—अव्यक्त मंगल स्मरणरूप होता है। ये दोनों मंगल भी आदि, मध्य और अन्त के भेद से तीन प्रकार के हैं। आदिमंगल प्रारम्भ किये जा रहे कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए, मध्यमंगल प्राप्त सफलता के

मूल्यांकन एवं प्राप्त सफलता से उत्पन्न अभिमान-वत्ति के उपशमन के लिये और अन्तमंगल स्व की तरह इतर जिज्ञासुजनों को अभीप्सित कार्य में सफलता प्राप्त कराने के लिए किया जाता है।

प्रस्तुत गाथा आदिमंगल रूप है और मध्य एवं अन्त मंगल यथा-स्थान प्रस्तुत किये जायेंगे।

मंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या

सामान्यतया हम सभी अपने से बड़ों की विनय, सम्मान और नमस्कार करने की परम्परा का अनुसरण करते हैं। ऐसा करना मंगलकारी भी है और साथ ही ऐसा करने पर हृदय में हर्ष एवं उल्लास की अनुभूति होती है। लेकिन यथार्थ विनय, नमस्कार वही है कि जिससे उन महापुरुषों के अनुरूप बनने की स्फूर्ति व प्रेरणा प्राप्त हो।

गाथा का पूर्वार्ध मंगलाचरणात्मक है। ग्रन्थकार आचार्य ने उसमें इसी प्रकार का सार्थक नमस्कार किया है। साथ ही वीर जिनेश्वर को नमस्कार करने के कारण का भी संकेत किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'जिणं', 'वीरं' और 'दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं' इन तीनों पदों में से 'वीरं' शब्द श्रमण भगवान् महावीर के नाम का द्योतक होने के साथ-साथ उनकी विशेषता बतलाने वाला भी है और शेष दो शब्द विशेषण रूप हैं।

जीव के संसारभ्रमण का कारण कर्म है। जब तक जीव और कर्म का संयोग बना रहेगा, तब तक जीव किसी न किसी योनि का शरीर धारण करते हुए संसार में परिभ्रमण करता रहेगा और शारीरिक क्षमता एवं शक्ति की तरतमता के कारण आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। लेकिन भगवान् महावीर ने संसार के कारण-भूत दुष्ट अष्ट कर्मों का निःशेष रूप से नाश कर दिया है। स्व-

पुरुषार्थ से राग-द्वेष-मोह आदि कर्मबन्ध के कारणों पर विजय प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर ली है। इसी कारण उनको यहाँ नमस्कार किया है।

इसके साथ ही ग्रन्थकार ने कर्ममुक्ति के उपाय और आदर्श को यथार्थ रूप में अवतरित करने वाले वीर जिनेश्वरदेव को नमस्कार करने के द्वारा प्रत्येक संसारी जीव को बोध कराया है कि जब तक राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मों और ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्मों के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, तब तक जन्म-मरण आदि रूप दुःखों को भोगना ही पड़ेगा।

मंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या इस प्रकार है—

'जिणं' (जिनं)—रागादिशत्रुजेतृत्वाज्जिनस्तं'—यह जिन शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या है। अर्थात् स्व-स्वरूपोपलब्धि में बाधक राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध आदि अन्तरंग शत्रुओं और ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले जिन कहलाते हैं।

वीरं—'वीर्' धातु पराक्रम के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः 'वीरयतिस्म वीरः' अर्थात् कषाय आदि अन्तरंग और उपसर्ग, परीषह आदि बाह्य शत्रुसमूह को जीतने में जिन्होंने पराक्रम किया है, वे वीर हैं।

अथवा 'ईर्' गतिप्रेरणयोः, अतः 'वि विशेषेण ईरयति, गमयति, स्फेटयति कर्म, प्रापयति वा शिवं, प्रेरयति शिवाभिमुखमितिवा वीरः'—ईर् धातु गति और प्रेरणार्थक है, इसलिए विशेष प्रकार से जो कर्म को दूर करते हैं, अन्य भव्य आत्माओं को मोक्ष प्राप्त कराते हैं अथवा जो मोक्ष के सन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं, वे वीर कहलाते हैं।

अथवा 'ईरि गतौ'—'वि-विशेषेण अपुनर्भावेन ईर्त्ते स्म याति स्म शिवमिति वीरः'—अर्थात् 'वि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'ईरि' धातु से वीर शब्द निष्पन्न हुआ है। अतः पुनः संसार में न आना पड़े, इस प्रकार

के अपुनर्भविन जो मोक्ष में चले गये हैं, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, उन्हें वीर कहते हैं। अथवा

विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते ।
तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद् वीर इतिस्मृतः ॥

अर्थात् जो कर्मों का विदारण करते हैं और तप से विराजित-शोभित हैं, तपोवीर्य से युक्त हैं, उन्हें वीर कहते हैं।

अथवा 'वि—विशिष्टां, ईं—लक्ष्मी, र—राति-ददाति आत्मीयत्वेन ग्रहणातीति वा वीरः।' अथवा 'वि—विशेषेण, अनन्त ज्ञानादि आत्म-गुणान्, इर्-ईरयति प्रापयति वा वीरः, अर्थात् अनन्तज्ञान-दर्शन और आत्मा के असाधारण गुणों रूपी लक्ष्मी को जो प्राप्त करने वाले हैं और दूसरों को भी इन्हीं की प्राप्ति में समर्थ सहयोगी बन सकते हैं, वे वीर कहलाते हैं।

दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं (दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापकं)—दुष्टानामष्टानां कर्मणां निष्ठापको-विनाशकस्तं'—अर्थात् संसार के कारणभूत अत्यन्त दुर्द्धर्ष राग-द्वेष आदि भावकर्मों और उनके कार्यभूत ज्ञानावरण आदि अष्ट द्रव्यकर्मों का विनाश करने वाले दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक (विनाशक) कहलाते हैं।

उक्त विशेषणों की व्याख्या का सारांश यह है कि ग्रन्थकार आचार्य ने संसार के कारणभूत कर्मपाश का निःशेष रूप से भेदन करने वाले, जन्म-जरा-मरण आदि रूप भयों का विनाश करने वाले, भव्यजनों के हृदयकमल को विकसित करने वाले और प्रबल उपसर्ग-परीषहों के उपस्थित होने पर मेरुवत् अचल-अडिग रहने वाले होने से वीर जिनेश्वर को नमस्कार किया है।

पदसार्थक्य

कदाचित् यह कहा जाये कि विघ्नोपशमन के लिये किये गये मंगलाचरण में 'जिणं' 'वीरं' और 'दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं' इन तीन

पदों में से एक पद ही पर्याप्त है। क्योंकि जब तीनों पदों का समान अर्थ है तो फिर उन तीनों पदों को देने की क्या उपयोगिता है? शाब्दिक अन्तर के सिवाय उनमें अन्य कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती है। तो इसका समाधान यह है कि—

'नत्वा जिनं' इतना पद देने पर यथासम्भव रागादि शत्रुओं के विजेता, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि को भी जिन कहा जा सकता है। क्योंकि वे जिन तो हैं लेकिन साक्षात् जिन नहीं हैं। अतः उनका निषेध करने के लिए 'वीरं' पद दिया। वीर भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे कि लोकप्रसिद्ध कार्यों में सफलता प्राप्त करने वालों को भी वीर कहा जाता है, अथवा कोई नाम से भी वीर होता है अर्थात् किसी का नाम भी वीर होता है। अतः इन लोकप्रसिद्ध वीरों और नामतः वीरों का निराकरण करने के लिए विशेषण दिया 'दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापकं'। जो अष्ट कर्मों का नाश करने वाला है, वही यथार्थ जिन और वीर है। इसीलिए एक दूसरे की विशेषता बतलाने वाले होने से मंगलाचरण में तीन पद सार्थक हैं तथा इन तीनों पदों से मंगलकर्ता आचार्यदेव ने आत्मा की चरमशुद्ध स्थिति कैसे प्राप्त होती है, इसका भी संकेत किया है।

प्रश्न—'दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापकं' और 'जिनं' यह दोनों पद तो समानार्थक विशेषण हैं। क्योंकि दुष्ट अष्ट कर्म को नष्ट करने वाला ही जिन कहलाता है। इसी अर्थ को स्वयं आपने स्वीकार किया है। अतः दोनों में से कोई एक विशेषणपद देना चाहिए था।

उत्तर—संसारमोचक आदि कितने ही परमतावलंबियों का मंतव्य है कि हिंसा, मैथुन आदि राग-द्वेष को बढ़ाने वाले पाप कार्यों से दुष्ट अष्टकर्मों का नाश होता है। अतः ऐसी विपरीत प्ररूपणा करने वाले उन संसारमोचकादि का निषेध करने के लिए 'जिन' विशेषण दिया है। 'जिन' ही राग-द्वेष आदि आत्मशत्रुओं के नाश करने वाले होने से अष्ट कर्मों का विनाश करने वाले हैं। अन्य कोई जिन—जीतने

वाले नहीं हो सकते हैं। इसीलिए 'जिन' और 'दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक' यह दोनों सार्थक विशेषण हैं और दोनों पृथक्-पृथक् दो विशेषताओं का बोध कराते हैं।

यह विशेषतायें साक्षात् रूप से वीर जिनेश्वर में प्राप्त हैं। अन्यत्र सम्भव नहीं होने से 'सम्मं'—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक उनको 'नमिऊण'—नमस्कार करके आचार्य अपने ग्रन्थरचना रूप कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

इस प्रकार गाथागत पूर्वार्ध के मुख्य पदों की सार्थकता बतलाने के बाद उत्तरार्ध की व्याख्या करते हैं कि—

'वोच्छामि पंचसंगहं'—पंचसंग्रह नामक ग्रन्थ का विवेचन करूंगा, कहूँगा। यद्यपि यह ग्रन्थ संग्रह रूप है तथापि 'महत्थं'—'महार्थम्' गम्भीर अर्थ वाला है। संग्रहात्मक होने पर भी इसके अर्थगांभीर्य में किंचिन्मात्र भी न्यूनता नहीं है। इसके साथ ही 'जहत्थं'—'यथार्थम्' जिनप्रवचन से अविरोधी अर्थ वाला है।

ग्रन्थरचना का प्रयोजन

स्व-इष्ट की सिद्धि को प्रयोजन कहते हैं। प्रयोजन के दो प्रकार हैं—१. अनन्तर (साक्षात्)-प्रयोजन और २. परम्पर-प्रयोजन। श्रोता की अपेक्षा ग्रन्थ के विषय का ज्ञान होना और कर्ता की अपेक्षा परोपकार अनन्तरप्रयोजन है तथा कर्म का स्वरूप समझकर कर्मक्षय के लिए प्रवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करना कर्ता और श्रोता का परम्पर-प्रयोजन है।

इस प्रकार सामान्य से ग्रन्थ के महत्व को प्रदर्शित करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं।

ग्रन्थ के नामकरण की दृष्टि

ग्रन्थ को प्रारम्भ करने के प्रसंग में सर्वप्रथम ग्रन्थ के नामकरण के कारण को स्पष्ट करते हैं—

सयगाइ पंच गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता ।
दाराणि पंच अहवा, तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥२॥

शब्दार्थ—सयगाइ—शतकादि, **पंच**—पांच, **गंथा**—ग्रन्थ, **जहारिहं**—यथायोग्य रीति से, **जेण**—जिस कारण, **एत्थ**—यहाँ, **संखित्ता**—संक्षिप्त करके, **दाराणि**—द्वार, **पंच**—पांच, **अहवा**—अथवा, **तेण**—उससे, **जहत्थाभिहाणं**—यथार्थ नामवाला, **इणं**—यह ।

गाथार्थ—यथायोग्य रीति से जिस कारण शतक आदि पांच ग्रन्थों का अथवा पांच द्वारों का यहाँ संक्षिप्त रूप में संग्रह किया गया है, उससे इस ग्रन्थ का 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नाम है ।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रन्थ के सार्थक नामकरण के कारण को स्पष्ट किया है कि इसमें शतक आदि पांच ग्रन्थों का सारांश संकलित किया गया है । उन ग्रन्थों के नाम हैं—

१. शतक, २. सप्ततिका, ३. कषायप्राभृत, ४. सत्कर्म और ५. कर्मप्रकृति ।[1]

इन पांच ग्रन्थों का संक्षेप में संग्रह किये जाने से 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नाम है ।

अथवा नामकरण का दूसरा कारण यह है कि इसके वर्णन के पांच अर्थाधिकार हैं । इन अर्थाधिकारों में अपने-अपने अधिकृत विषय का यथायोग्य रीति से विवेचन किया जायेगा । इस अपेक्षा से भी इस प्रकरण का 'पंचसंग्रह' यह नाम सार्थक है ।

---

१ इन ग्रंथों के नामों का उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है । इन नामों वाले ग्रंथ तो आज भी उपलब्ध हैं, लेकिन ये वही ग्रंथ हैं, जिनका यहाँ उल्लेख है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथकार के समय में कोई प्राचीनतम ग्रंथ रहे होंगे जो उपलब्ध ग्रंथों से भी अधिक गम्भीर अर्थ वाले रहे होंगे और उन्हीं का सारांश पंचसंग्रह में संकलित है ।

सारांश यह है कि संकलन अथवा वर्ण्यविषयों की अपेक्षा नामकरण के कारण का विचार किया जाये तो पूर्व गाथा में जो 'वोच्छामि पंचसंगहं' पद दिया था, तदनुरूप ही ग्रन्थ का 'पंचसंग्रह' नाम यथार्थ सिद्ध होता है।

पांच द्वारों के नाम

जिज्ञासु यहाँ प्रश्न पूछता है कि आपने पांच द्वारों का संकेत तो कर दिया, लेकिन वे द्वार कौन-से हैं ? उनके नाम क्या हैं ? यह नहीं बताया, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार पांच द्वारों का निर्देश करते हैं—

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगा य वत्तव्वा।
तह बंधियव्व य बंधहेयवो बंधविहिणो य ॥३॥

शब्दार्थ—एत्थ—यहाँ, इस प्रकरण में, **य**—और, **जोगुवयोगाणमग्गणा**—योग-उपयोग मार्गणा, **बंधगा**—बन्धक, **य**—और, **वत्तव्वा**—कथन किया जायेगा, **तह**—तथा, **बंधियव्व**—बन्धव्य, बांधनेयोग्य, **य**—और, **बंधहेयवो**—बंधहेतु, **बंधविहिणो**—बंधविधि, **य**—और।

गाथार्थ—इस प्रकरण में योगोपयोगमार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पांच द्वारों का कथन किया जायेगा।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रन्थ के पांच अर्थाधिकारों के नाम बताये हैं कि वे कौन हैं और प्रत्येक में किस-किस विषय का विवेचन किया जायेगा। उन अर्थाधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. **योगोपयोगमार्गणा**—योग और उपयोग के सम्बन्ध में विचार।
२. **बन्धक**—बांधने वाले कौन जीव हैं ? इसका विचार।
३. **बन्धव्य**—बांधने लायक क्या है ? इसका विचार।
४. **बन्धहेतु**—बांधने योग्य कर्मों के बन्धहेतुओं का विचार।
५. **बन्धविधि**—प्रकृतिबन्ध आदि बन्ध के प्रकारों का विचार।

पांच ग्रन्थों के संग्रह की तरह पांच अर्थाधिकार होने से इस प्रकरण का 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नामकरण किया गया है।

उक्त पांच अर्थाधिकारों के क्रमविन्यास पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि—

प्रश्न—यह कैसा अर्थाधिकारों का क्रमविधान है ? यह विधान तो युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि सभी क्रियायें कर्ता के अधीन होने से सर्वप्रथम बन्धक, तत्पश्चात् योगोपयोग, अनन्तर बन्धव्य और उसके बाद क्रमशः बन्धहेतु और बन्धविधि का विधान करना चाहिये था।

उत्तर—अभिप्राय को न समझने के कारण उक्त प्रश्न असंगत है। क्योंकि योग और उपयोग जीव के असाधारण गुण हैं और अविनाभावी होने से उनके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा का सरलता से बोध हो जाता है तथा दूसरी बात यह है कि छद्मस्थ जीव प्रायः गुण से गुणी को जानते हैं, न कि साक्षात्। अतः उक्त दोनों अर्थों का बोध कराने के लिए सबसे पहले योग-उपयोग का उपन्यास किया है और उसके पश्चात् बन्धक आदि का विन्यास किया है।

पंच अर्थाधिकारों के लक्षण

पूर्व में पांच अधिकारों के वर्ण्य विषयों का संक्षेप में संकेत किया है। अब उन्हीं को कुछ विशेष रूप में स्पष्ट करते हैं।

प्रथम अर्थाधिकार का नाम 'योगोपयोगमार्गणा' है। इसमें योग और उपयोग की मार्गणा—विचारणा—विवेचना की जायेगी। अतः सर्वप्रथम योग और उपयोग का स्वरूप बतलाते हैं।

योग—अर्थात् जीव की वीर्यशक्ति अथवा जीव का वीर्य परिस्पन्द (परिणाम), जिसके द्वारा दौड़ना, कूदना आदि अनेक क्रियाओं में जीव संबद्ध हो – प्रवृत्ति करे उसे योग कहते हैं।[1]

अथवा मन, वचन और काय से युक्त जीव का जो वीर्य परि-

---

१ योजनं योगो जीवस्य वीर्यपरिस्पद इत्यर्थः यद् वा युज्यते संबद्ध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति योगः।

—पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ० ३

णाम अथवा प्रदेश-परिस्पन्द रूप प्रणियोग होता है, वह योग कहलाता है।[1]

अथवा जीवप्रदेशों का जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है, वह योग है।[2]

अथवा मन, वचन और काय के व्यापार-प्रवृत्ति अर्थात् हलन-चलन को योग कहते हैं।[3]

अथवा पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उस को योग कहते हैं।[4]

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, चित्त, यह सब योग के पर्यायवाची अपर नाम हैं।[5]

यह योगशक्ति समस्त जीवों में पाई जाती है और वह वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय एवं सर्वक्षय से उत्पन्न होती है। देशक्षय से छद्मस्थ-संसारी जीवों में और सर्वक्षय से सयोगि-अयोगि केवली, मुक्त जीवों में

---

१ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्सप्पणिओगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥
—दि. पंचसंग्रह १/८८

२ जीव पदेसाण परिप्फदो संकोचविकोचब्भमणसरूवओ।
—धवला १०/४, २, ४, १७५/४३७

३ कायवाङ्मनःकर्म योगः। —तत्त्वार्थसूत्र ६/१

४ पुग्गलविवाईदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम कारणंजोगो॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा २१६

५ जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जया॥
—कर्मप्रकृति, पृ० १८

उत्पन्न होती है। संसारी जीव सलेश्य हैं और मुक्त जीव अलेश्य। प्रस्तुत में सलेश्य-संसारी जीव की योगशक्ति अभिप्रेत है।

संसारी जीवों के पास परिणमन, अवलम्बन और ग्रहण के साधन रूप में मन, वचन और काय रूप सहकारी कारणों के भेद से योग के मुख्य तीन भेद हैं[1] और उनके अवान्तर पन्द्रह भेद होते हैं। जिनके नाम यथाप्रसंग आगे बतलाये जायेंगे।

उपयोग—जीव की चेतनाशक्ति का व्यापार। जिससे आत्मा वस्तुओं को जानने के प्रति प्रवृत्ति करती है, ऐसी जीव की स्वरूपभूत चेतनाशक्ति का व्यापार उपयोग कहलाता है।[2]

अथवा जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं।[3]

अथवा आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।[4]

चेतना की परिणतिविशेष का नाम उपयोग है। उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है।[5]

उपयोग के बारह भेद हैं। इनके नाम और लक्षण आगे यथाप्रसंग बतलाये जायेंगे।

योगोपयोगमार्गणा में इन योग और उपयोग की मार्गणा-विचारणा

---

१ परिणामालंबणगहणसाहणं तेण लद्धनामतिगं।
—कर्मप्रकृति, गा० ४

२ उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, बोधरूपो जीवस्य स्वतत्त्वभूतो व्यापारः। —पंचसंग्रह टीका, पृ० ४

३ वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो।
—गो. जीवकाण्ड, गाथा ६७२

४ चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। —सर्वार्थसिद्धि २/८

५ उपयोगो लक्षणम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/८

जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों में की जायेगी तथा साथ ही मार्गणास्थानों में जीवस्थानों और गुणस्थानों का भी विचार किया जायेगा।

बन्धक—जो स्व आत्मप्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्मों को सम्बद्ध करते हैं—जोड़ते हैं, उन्हें बन्धक कहते हैं।[1] इन कर्म बाँधने वाले जीवों का विचार बन्धक नामक दूसरे अर्थाधिकार में किया जायेगा।

बन्धव्य—बन्धक जीवों द्वारा बाँधने योग्य आठ प्रकार के कर्मों को बन्धव्य कहते हैं।[2] इनका विचार तीसरे बन्धव्य अर्थाधिकार में किया जायेगा।

बन्धहेतु—कर्म-परमाणुओं के साथ आत्म-प्रदेशों का अग्नि और लोहपिण्ड के समान परस्पर एकाकार सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं।[3]

अथवा कर्म-प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना **बन्ध** है।[4]

---

१ (क) बध्नन्त्यष्टप्रकारं कर्म्म स्वप्रदेशैरिति बंधकाः।
—पंचसंग्रह, स्वोपज्ञटीका पृ. ३

(ख) बध्नन्ति संबध्नन्त्यष्टप्रकारं कर्म स्वप्रदेशैः सहेति बंधकाः।
—पंचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ४

२ (क) बद्धव्यम् इति बंधनीयं जीवैरात्मप्रदेशैः।
—पंचसंग्रह, स्वोपज्ञटीका पृ. ३

(ख) बंद्धव्यं तदेवाष्टप्रकारं कर्म।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ४

३ कर्मपरमाणुभिः सहात्मप्रदेशानां वह्न्यस्पिडवदन्योऽन्यानुगमलक्षणः संबंधो बंधः। —पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ४

४ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बंधः।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक १/४/१७/२६/२९

इस बन्ध के हेतुओं—मिथ्यात्वादि को बन्धहेतु कहते हैं। इनका विचार चौथे बंधहेतुद्वार में किया जायेगा।

बन्धविधि—पूर्वोक्त स्वरूप वाले बंध के प्रकृतिबंध आदि प्रकारों को बन्धविधि कहते हैं। इनका विचार बन्धविधि नामक पांचवें द्वार में किया जायेगा।

इस प्रकार से इन पांच द्वारों का संक्षेप में स्वरूप और उनमें किये जाने वाले वर्णन की रूपरेखा जानना चाहिये।

अब यथाक्रम से उनका विस्तार से विवेचन करते हैं।

---

१. योगोपयोगमार्गणा

योग के भेद

उद्देश्य के अनुसार निर्देश-प्रतिपादन किया जाता है—इस न्याय से सर्वप्रथम पहले अर्थाधिकार योगोपयोगमार्गणा का कथन प्रारम्भ करते हैं। योग-उपयोग में पहला योग है। योग का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। अतः अब योग के भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—

सच्चमसच्चं उभयं असच्चमोसं मणोवई अट्ठ।
वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि कम्मयगं ॥४॥

शब्दार्थ—**सच्चमसच्चं**—सत्य, असत्य, **उभयं**—उभय—मिश्र, **असच्चमोसं**—असत्यामृषा, **मणोवई**—मन, और वचन, **अट्ठ**—आठ, **वेउव्वाहारोराल**—वैक्रिय, आहारक और औदारिक, **मिस्ससुद्धाणि**—मिश्र और शुद्ध, **कम्मयगं**—कर्मजक-कार्मण।

गाथार्थ—सत्य, असत्य, उभय—मिश्र और असत्यामृषा इस प्रकार मन और वचन के चार-चार प्रकार होने से कुल आठ तथा वैक्रिय, आहारक, औदारिक ये तीन मिश्र एवं शुद्ध तथा कार्मण (इस प्रकार काययोग के सात भेद हैं, इनको मिलाने पर योग के कुल पन्द्रह भेद होते हैं।

विशेषार्थ—योग के पन्द्रह भेदों के नाम गाथा में बतलाये हैं। ये भेद संसारी जीव के ग्रहण आदि के साधनभूत मन, वचन और काय के अवलंबन से होते हैं। अतः उनकी अपेक्षा योग के पन्द्रह भेद हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यद्यपि मन, वचन और काय के पुद्गलों के अवलंबन से उत्पन्न हुए जीव के वीर्य-व्यापार को योग कहते हैं और वही वीर्य-व्यापार

मुख्य रूप से योग का वाचक है। लेकिन यहाँ जो पुद्गल उस वीर्य-व्यापार में कारण हैं, उन मन, वचन और काय के पुद्गलों में ही कार्य का आरोप करके उन पुद्गलों को योग शब्द से विवक्षित किया है। इसी अपेक्षा से मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

मनोयोग—१ सत्य मनोयोग, २ असत्य मनोयोग, ३ सत्य-असत्य मनोयोग, ४ असत्य-अमृषा मनोयोग (व्यवहार मनोयोग)।

वचनयोग—१ सत्य वचनयोग, २ असत्य वचनयोग, ३ सत्य-असत्य वचनयोग, ४ असत्य-अमृषा वचनयोग (व्यवहार वचनयोग)।

काययोग—१ वैक्रियकाययोग, २ वैक्रियमिश्र काययोग, ३ आहारक काययोग, ४ आहारकमिश्र काययोग, ५ औदारिक काययोग, ६ औदारिकमिश्र काययोग, ७ कार्मण काययोग।[1]

अब योग के उक्त पन्द्रह भेदों का स्वरूप बतलाते हैं।

मनोयोग के भेदों के लक्षण

सत्य मनोयोग—सत् अर्थात् प्राणी, जीव, आत्मा आदि। उनके लिये जो हितकर हो उसे सत्य कहते हैं।[2] अथवा 'सत्' यानि मुनि या पदार्थ। जो मुनि और पदार्थ को साधु—हितकर हो वह सत्य कहलाता है।[3] अथवा सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं। अर्थात् जैसा हो वैसा ही चिन्तन करना और कहना सत्य का सामान्य लक्षण है।

---

१ इस प्रकार से काययोग के भेदों के क्रमविधान का कारण आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२ संतः प्राणिनोऽभिधीयन्ते, तेभ्यो हितं सत्यम्।
—पंचसंग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ. ४

३ संतो मुनयः पदार्था वा तेषु·····साधु सत्यम्।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ४

अथवा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन करने को सत्य कहते हैं और इस प्रकार से पदार्थों को विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं।[1] जैसे कि जीव है, वह द्रव्यरूप में सत् और पर्यायरूप में असत् है और अपने-अपने शरीरप्रमाण है, इत्यादि रूप में जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप है, उसी प्रकार से उसका विचार करने में तत्पर मन सत्यमन कहलाता है। अर्थात् समीचीन रूप से पदार्थ को विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते हैं।

असत्य मनोयोग—सत्य से विपरीत को असत्य कहते हैं।[2] जैसे कि जीव नहीं है, अथवा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, इत्यादि, जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप नहीं है, उस रूप में उसका विचार करने में तत्पर मन असत्यमन कहलाता है और उसके द्वारा होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते हैं।

सत्यासत्य मनोयोग—इसको संक्षेप में उभय या मिश्र मनोयोग भी कहते हैं। सत्य और असत्य से मिश्रित अर्थात् जिसमें सत्यांश भी हो और आंशिक असत्य भी हो, इस प्रकार सत्य-असत्य से मिश्रित को सत्यासत्य कहते हैं।[3] जैसे कि धव, खदिर और पलाश आदि से मिश्रित और अधिक अशोकवृक्ष वाले वन को 'यह अशोकवन ही है' ऐसा विकल्पात्मक चिन्तन सत्यासत्य कहलाता है और उस प्रकार के मन को सत्यासत्य—मिश्रमन कहते हैं तथा उसके द्वारा होने वाले योग को सत्यासत्य (मिश्र—उभय) मनोयोग कहते हैं।

---

१ सब्भावमणो सच्चो। —गोम्मटसार, जीवकांड गाथा २१७

२ (क) तद्विपरीतमसत्यम्। —पंचसंग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ. ४
(ख) सत्यविपरीतमसत्यम्। —पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ५
(ग) तव्विवरीओ मोसो। —गोम्मटसार, जीवकांड गाथा २१७

३ (क) सत्यासत्यं द्विस्वभावं। —पंचसंग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ. ४
(ख) जाणुभयंअसच्चमोसोत्ति। —गोम्मटसार, जीवकांड गाथा २१७

मिश्र मनोयोग के स्वरूप का उक्त कथन व्यवहारनयापेक्षा समझना चाहिये। यथार्थतया तो उसका असत्य में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि जिस रूप में वस्तु का विचार किया है, उस रूप में वह वस्तु नहीं है।[1]

असत्यामृषा मनोयोग—जो मन न तो सत्य हो और असत्य रूप भी नहीं हो, उसे असत्यामृषा मन कहते हैं। अर्थात् मन के द्वारा किया जाने वाला विचार सत्यरूप भी न हो, उसी प्रकार असत्यरूप भी न हो, तब वह असत्यामृषा कहलाता है और उसके द्वारा जो योग होता है, उसको असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं।[2]

जब किसी विषय में विप्रतिपत्ति—विवाद उपस्थित हो, तब पदार्थ की स्थापना करने की बुद्धि से सर्वज्ञ के मतानुसार जो विकल्प किये जाते हैं, जैसे कि जीव है और वह द्रव्यरूप से सत् और पर्यायरूप से असत है तो इस प्रकार का विकल्प सत्य कहलाता है। क्योंकि इस प्रकार का निर्णय करने में आराधकभाव है। लेकिन विवाद के प्रसंग में जब अपने मंतव्य को पुष्ट करने के लिए सर्वज्ञ के मत के विपरीत स्वबुद्धि से वस्तु की स्थापना करने हेतु विकल्प किये जायें, जैसे कि जीव नहीं है, अथवा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, यह असत्य है। क्योंकि ऐसा विकल्प करने में विराधकभाव है। किन्तु इस प्रकार का स्वरूप वाला सत्य या असत्य दोनों जिसमें न हो और जो विकल्प पदार्थ के स्थापन या उत्थापन की बुद्धि के बिना ही मात्र स्वरूप का विचार करने में प्रवृत्त हो, यथा—देवदत्त घड़ा लाओ, मुझे गाय दो इत्यादि; वह असत्यामृषा मन कहलाता है। क्योंकि इस प्रकार

---

१ व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरिदमसत्यमेव, यथा विकल्पितार्थायोगात्। —पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ५

२ ण य सच्चमोसजुत्तो जो हु मणो सो असच्चमोसणो।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो॥
—गोम्मटसार, जीवकांड गाथा २१८

के विकल्प द्वारा मात्र स्वरूप का ही विचार किये जाने से यथोक्त लक्षणरूप सत्य या असत्य नहीं है। इस रूप में मन के द्वारा किया जाने वाला विचार असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है।

उक्त कथन भी व्यवहारनयापेक्षा जानना चाहिये। अन्यथा विप्रतारण—ठगाई आदि दुष्ट-मलिन आशयपूर्वक यदि विचार किया जाता है तो उसका असत्य में और शुद्ध आशय से विचार किया जाता है तो उसका सत्य में अन्तर्भाव हो जाता है।

सारांश यह है कि सत्य और असत्य यह दो विकल्प मुख्य हैं और शेष दो विकल्प—सत्यासत्य और असत्यामृषा व्यवहारदृष्टिसापेक्ष हैं। लेकिन निश्चय और व्यवहार ये दोनों नयसापेक्ष हैं, अतः उनको भी भेद रूप में माना है। क्योंकि मानसिक चिन्तन के ये रूप भी हो सकते हैं।

इस प्रकार से मनोयोग के चार भेद जानना चाहिये।

वचनयोग के भेदों के लक्षण

विचार की तरह वचन के भी सत्य आदि चार प्रकार होते हैं। अतः मनोयोग की तरह वचनयोग के चार भेद हैं और नाम भी तदनुरूप हैं—

१. सत्य वचनयोग, २. असत्य वचनयोग, ३. उभय वचनयोग, ४ असत्यामृषा वचनयोग।

दस प्रकार के सत्य[1] अर्थ के वाचक वचन को सत्य वचन और उससे होने वाले योग को सत्य वचनयोग कहते हैं तथा इससे जो विपरीत है, उसको मृषा—असत्य और जो कुछ सत्य और कुछ असत्य का

---

१ जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, सम्भावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्य के दस भेद हैं।

वाचक है, उसको उभय वचनयोग कहते हैं[1] तथा जो न सत्य रूप हो और न मृषारूप ही, हो उसे असत्यामृषा—अनुभय वचनयोग कहते हैं।[2]

इस प्रकार मनोयोग और वचनयोग के चार-चार भेदों के लक्षणों का विचार करने के पश्चात् अब काययोग के सात भेदों के लक्षण बतलाते हैं।

काययोग के भेदों के लक्षण

काययोग के सात भेदों में से आदि के छह भेदों का संकेत करने के लिए गाथा में 'वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि' पद दिया है। अर्थात् वैक्रिय, आहारक और औदारिक ये तीन शरीर मिश्र भी होते हैं और शुद्ध भी हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि मिश्र शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होने से वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और औदारिकमिश्र ये तीन भेद मिश्र के हुए और 'सुद्धाणि' यानी मिश्र शब्द के संयोग से रहित वैक्रिय, आहारक और औदारिक ये तीन भेद शुद्ध के हैं। इस प्रकार से मिश्र और शुद्ध की अपेक्षा काययोग के छह भेदों के नाम यह हैं—

१ वैक्रिय, २ वैक्रियमिश्र, ३ आहारक, ४ आहारकमिश्र, ५ औदारिक, ६ औदारिकमिश्र।

गाथा में उत्पत्ति क्रम को दृष्टि में रखकर मिश्र काययोगों का निर्देश करने के बाद शुद्ध काययोगों का निर्देश किया गया है। यानी पहले वैक्रियमिश्र, अनन्तर शुद्ध वैक्रिय काययोग आदि होते हैं।[3]

---

१ दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥
—गोम्मटसार, जीवकांड गा. २१९

२ जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो।
—गोम्मटसार, जीवकांड गा. २२०

३ गाथायां पूर्वं मिश्रनिर्देशो भवन क्रमसूचनार्थः।
—पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ५

तथापि शुद्ध भेदों की व्याख्या किये बिना मिश्र भेदों को समझना सम्भव नहीं होने से प्रथम शुद्ध वैक्रिय काययोग आदि तीनों की व्याख्या करते हैं—

वैक्रिय काययोग—अनेक प्रकार की अथवा विशिष्ट क्रिया को विक्रिया कहते हैं और उसको करने वाला शरीर वैक्रियशरीर कहलाता है।[1] अर्थात् विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन हो उसे वैक्रियशरीर कहते हैं। जिसको इस प्रकार समझना चाहिए कि यह शरीर एक होकर भी अनेक हो सकता है, आकाशगामी होकर भी भूमि पर चलता है, जमीन पर चलने वाला होकर भी आकाशचारी होता है, दृश्य होकर भी अदृश्य होता है और अदृश्य होकर भी दृश्य हो सकता है। इस प्रकार की विविध क्रियायें इस शरीर के द्वारा शक्य होने से यह शरीर वैक्रिय कहलाता है और वैक्रियशरीर के द्वारा होने वाले योग को यानी वैक्रियशरीर के अवलम्बन से उत्पन्न परिस्पन्द द्वारा होने वाले प्रयत्न को वैक्रिय काययोग कहते हैं।[2]

वैक्रियशरीर के दो प्रकार हैं—(१) औपपातिक और (२) लब्धि-प्रत्ययिक।[3] इनमें से उपपात—देव, नारकों का जन्म—जिसमें कारण हो उसे औपपातिक कहते हैं। औपपातिक तो जन्म के निमित्त से निश्चित रूप से होता है। यह उपपातजन्य वैक्रियशरीर देव और नारकों का होता है[4] और लब्धि—शक्ति, तदनुकूल वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम जिसमें प्रत्यय—कारण हो, वह लब्धिप्रत्ययिक वैक्रिय-

---

१ विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्।
—पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ५

२ तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो।
—गोम्मटसार, जीवकांड गा. २३१

३ वैक्रियमौपपातिकं। लब्धिप्रत्ययं च। —तत्त्वार्थसूत्र २/४६, ४७

४ नारकदेवानामुपपातः। —तत्त्वार्थसूत्र २/३५

शरीर कहलाता है। वह किन्हीं-किन्हीं तिर्यंच और मनुष्यों को होता है। क्योंकि सभी तिर्यंचों व मनुष्यों को विक्रियालब्धि नहीं होती है।

उक्त वैक्रियशरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है, तब तक उसको वैक्रियमिश्र कहते हैं। अर्थात् वैक्रियशरीर की उत्पत्ति के प्रारम्भिक समय से लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपूर्ण शरीर को वैक्रियमिश्र कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग को वैक्रियमिश्र काययोग कहते हैं।[1]

वैक्रियमिश्र देवों और नारकों को अपर्याप्त अवस्था में होता है और मनुष्य, तिर्यंच जब वैक्रियशरीर की विकुर्वणा करते हैं, तब उसके प्रारम्भ काल और त्याग काल में होता है।[2]

आहारक काययोग—तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि के दर्शन करने अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी विशिष्ट प्रयोजन के उपस्थित होने पर, जैसे कि प्राणिदया, सूक्ष्म पदार्थों का निर्णय करने में शंका उत्पन्न होने पर उसका निर्णय करने के लिए समीप (भरत-ऐरवत क्षेत्र) में केवली भगवान् का संयोग न मिलने से संशय को दूर करने के लिए महाविदेहक्षेत्र में औदारिकशरीर से जाना शक्य न होने पर विशिष्ट लब्धि के वश चतुर्दशपूर्वधारी संयत के द्वारा आहारक-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके जो निर्मित किया जाता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं।[3]

---

१ वेगुव्विय उ तत्थं विजाणमिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो वेगुव्वियमिस्स जोगो सो॥
—गोम्मटसार, जीवकांड गाथा २३३

२ वैक्रियमिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां नरतिरश्चां वा वैक्रियस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले वा क्वचित्।
—पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ५

३ पाणिदयरिद्धिदंसणसुहुमपयत्थावगहण हेउं वा।
संसयवोच्छेयत्थ गमण जिणपायमूलम्मि॥१॥ (क्रमशः)

यह आहारकशरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघातरहित है।[1] अर्थात् यह आहारकशरीर रस, रुधिर आदि सप्त धातुओं से रहित, शुभ पुद्गलों से निर्मित, शुभ प्रशस्त अवयव और प्रशस्त संस्थान—समचतुरस्रसंस्थान, स्फटिकशिला के समान अथवा हंस के समान धवल वर्ण वाला और सर्वांगसुन्दर होता है। वैक्रियशरीर की अपेक्षा अत्यन्त प्रशस्त होता है तथा इसका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।[2]

यह आहारकशरीर किन्हीं-किन्हीं श्रुतकेवलियों को होता है, सभी को नहीं। क्योंकि सभी श्रुतकेवलियों को आहारकलब्धि नहीं होती है और जिनको होती भी है, वे भी उपर्युक्त कारणों के होने पर लब्धि का उपयोग करते हैं।

इस आहारकशरीर द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारक काययोग कहते हैं।

आहारकशरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लेकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारकमिश्र काय और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं।

औदारिक काययोग—पुरु, महत्, उदार, उराल ये एकार्थवाची शब्द हैं। अतः जो उदार (स्थूल) पुद्गलों से बना हुआ हो, उसे औदारिक-शरीर कहते हैं।

(क्रमशः) कज्जम्मि समुप्पन्ने सुय केवलिणा विसिट्ठलद्धीए।
ज एत्थ आहरिज्जइ भणंमि आहारगं तं तु॥
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ५

१ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं.....। —तत्त्वार्थसूत्र २/४९

२ अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे।
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा २३७

अथवा जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान, श्रेष्ठ हो, वह औदारिक-शरीर कहलाता है। इस शरीर का प्राधान्य—श्रेष्ठत्व तीर्थंकरों और गणधरों के शरीर की अपेक्षा समझना चाहिये। यद्यपि देवों में अनुत्तर देवों का शरीर भी अत्यन्त कान्तिवाला और प्रशस्त है, लेकिन वह शरीर भी तीर्थंकरों और गणधरों के शरीर की अपेक्षा अत्यन्त गुणहीन है।

अथवा उदार मोटा, स्थूल जो शरीर हो उसे औदारिकशरीर कहते हैं। क्योंकि यह शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण बड़े में बड़ा हो सकता है।[1] जिससे शेष शरीरों की अपेक्षा बृहत् प्रमाण वाला है। वैक्रियशरीर से इस शरीर की बृहत्ता भवधारणीय[2] स्वाभाविक मूल शरीर की अपेक्षा से जानना चाहिये, अन्यथा तो उत्तर वैक्रियशरीर[3] एक लाख योजन प्रमाण वाला भी होता है।

यह औदारिकशरीर मनुष्यों और तिर्यंचों में पाया जाता है। लेकिन मनुष्यों में इतनी विशेषता है कि तीर्थंकरों और गणधरों का शरीर प्रधान (सारयुक्त) पुद्गलों से और शेष मनुष्यों और तिर्यंचों का शरीर असार पुद्गलों से बनता है।

इस औदारिकशरीर से उत्पन्न शक्ति के द्वारा जीव के प्रदेशों में परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है, वह औदारिक काययोग कहलाता है।

पूर्वोक्त औदारिकशरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है, तब तक औदारिकमिश्र कहलाता है। अर्थात् औदारिकशरीर की उत्पत्ति

१ प्रत्येक वनस्पतिकाय का शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन का है।
२ जन्म से मरण पर्यंत जो शरीर रहे, उसे भवधारणीय शरीर कहते हैं।
३ अपने मूल शरीर से अन्य जो शरीर किया जाता है, उसे उत्तरवैक्रिय कहते हैं। उत्तर यानी दूसरा। यह शरीर एक साथ एक अथवा उससे भी अधिक किया जा सकता है।

प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती काल में कार्मणशरीर की सहायता से होने वाले औदारिक काययोग को औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं।[1]

यह औदारिकमिश्र मनुष्यों और तिर्यंचों को अपर्याप्त अवस्था में तथा केवलि समुद्घातावस्था में भी दूसरे, छठे और सातवें समय में होता है।[2]

इस प्रकार से वैक्रिय आदि शुद्ध और मिश्र के छह काययोगों का स्वरूप जानना चाहिये।

यदि इन औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों में उत्पत्ति-सम्बन्धी विशेषता का विचार किया जाये तो औदारिकशरीर भव-प्रत्ययिक और आहारकशरीर लब्धि-प्रत्ययिक ही है लेकिन वैक्रिय शरीर भव-प्रत्ययिक और लब्धि-प्रत्ययिक दोनों प्रकार का है।

अब काययोग के अन्तिम भेद कार्मणकाय योग का स्वरूप बतलाते हैं।

कार्मण काययोग—कर्मरूप जो शरीर है, वह कार्मणशरीर है। अर्थात् आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह एकाकार हुई ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाओं का जो पिण्ड है, वह कार्मणशरीर है। अथवा जो कर्म का विकार—कार्य है, ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के

---

१ ओरालिय उ तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्स जोगो सो॥
—गोम्मटसार, जीवकांड गाथा २३०

२ औदारिकमिश्रं नरतिरश्चामपर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ५

विचित्र कर्मों से बना हुआ है और समस्त शरीरों का कारणभूत है, उसे कार्मणशरीर जानना चाहिए।[1]

यह कार्मणशरीर औदारिक आदि समस्त शरीरों का कारणभूत—बीजभूत है। क्योंकि भवप्रपंच की वृद्धि के बीज—कार्मणशरीर का जब तक सद्भाव है, तब तक ही संसार और शेष शरीर हैं, किन्तु जब मूल से इसका नाश हो जाता है, तब शेष शरीरों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और न संसार ही रहता है। यह कार्मणशरीर ही एक गति से दूसरी गति में जाने के लिए मूलभूत साधन है। अर्थात् वर्तमान भव का त्याग करने के पश्चात्—मरण होने पर जब भवान्तर का शरीर ग्रहण करने के लिए जीव गमन करता है, तब कार्मणशरीर के योग से गमन करके उत्पत्तिस्थान को ओर जाता है और उस नवीन भव के शरीर को धारण करता है। इस प्रकार यह कार्मणशरीर आगामी सर्व कर्मों का प्ररोहण—आधार, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सांसारिक सुख-दुःखादि का बीज है।

कार्मणशरीर अवयवी है और ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियां अवयव हैं। कार्मणशरीर और उत्तर प्रकृतियों का अवयव-अवयवीभाव सम्बन्ध है।

इस कार्मण शरीर के द्वारा होने वाले योग को कार्मणयोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिक आदि शरीरवर्गणाओं के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य (शक्ति) के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न है, उसे कार्मण काययोग जानना चाहिये।

---

१ (क) कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ५

(ख) कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणं, कर्मणि भवं वा कार्मणं, कर्मात्मकं वा कार्मणमिति।
—पंचसंग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृष्ठ ४

कामण काययोग से ही संसारी आत्मा मरणदेश को छोड़कर उत्पत्तिस्थान की ओर जाती है, इसको आधार बनाकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि—

प्रश्न—जब कार्मणशरीरयुक्त आत्मा एक गति से गत्यन्तर में जाती है, तब जाते-आते वह दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती—दिखती क्यों नहीं है ?

उत्तर—आत्मा अचाक्षुष है और कर्म पुद्गलों के अत्यन्त सूक्ष्म होने से वे चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत नहीं होते हैं। जिससे एक भव से दूसरे भव में जाते हुए भी बीच में भवशरीर—भव के साथ सम्बन्ध वाला शरीर होने पर भी निकलते और प्रवेश करते समय सूक्ष्म होने से वह दिखलाई नहीं देती है, किन्तु दिखलाई न देने मात्र से उसका अभाव नहीं समझना चाहिए।[1]

इस प्रकार से चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग, कुल पन्द्रह योगों का स्वरूप जानना चाहिये।

अब तैजस काययोग न मानने और योगों के क्रम विन्यास के बारे में विचार करते हैं।

जिज्ञासु तैजस काययोग न मानने के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है।

प्रश्न—औदारिकादि शरीरों की तरह तैजस भी शरीर है, जो खाये हुए आहार-भोजन के पाक का कारण है और जिसके द्वारा विशिष्ट तपोविशेष से उत्पन्न हुई तेजोलेश्यालब्धि वाले पुरुष की तेजोलेश्या का निकालना होता है। इस प्रकार तैजसशरीर के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है। अतः उसको काययोग

---

१ अंतराभवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।
निष्क्रामन् वा प्रविशन् वा नाभावोऽनीक्षणादपि ।'

—पंचसंग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ६

के भेदों में ग्रहण करके काययोग के आठ और योगों के कुल सोलह भेद मानना चाहिये।

उत्तर—कार्मणशरीर के साथ सदैव अव्यभिचारी नियत सम्बन्ध वाला होने से कार्मण के ग्रहण द्वारा तैजसशरीर का भी ग्रहण कर लिया गया समझना चाहिए तथा तैजस और कार्मण यह दोनों अविनाभावपूर्वक अनादिकाल से जीव के साथ सम्बद्ध हैं। अतः तैजस काययोग का पृथक् निर्देश नहीं किया है।[1] इसीलिये योगों के पन्द्रह भेद बतलाये हैं।

योगों का क्रम विन्यास

प्रश्न—योगों का यह कैसा क्रमविन्यास ? क्योंकि समस्त संसारी जीवों में सर्वप्रथम काययोग, तत्पश्चात् वचनयोग का विकास देखा जाता है और मनोयोग तो सभी जीवों में न होकर सिर्फ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ही पाया जाता है। अतः इसी क्रम से योगों के भेदों का विन्यास करना चाहिए था। अर्थात् काययोग तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में समान रूप से है, अतः पहले काययोग का निर्देश करना चाहिये था और वचनयोग द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में पाया जाता है अतः काययोग के बाद वचनयोग का और मनोयोग तो मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में होता है, अतः उसका सबसे अन्त में विन्यास करना चाहिये था जिससे उनकी विशेषता ज्ञात होती। परन्तु ऐसा न करके पहले मनोयोग, पश्चात् वचनयोग और अन्त में काययोग के कथन करने का क्या कारण है ?

उत्तर—अल्पवक्तव्यता के कारण तथा मनोयोग की प्रधानता बतलाने के लिये एवं आगम में इसी प्रकार का क्रम प्रसिद्ध होने से तथा योगनिरोधकाल में इसी प्रकार से निरोध किये जाने के

---

१ (क) सदा कार्मणेन सहाव्यभिचारितया तस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वात्।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ६

(ख) अनादिसम्बन्धे च। —तत्त्वार्थसूत्र २/४२

कारण पश्चानुपूर्वी से मन, वचन और काय योग का क्रमोपन्यास किया है।

मनोयोग आदि के उत्तरभेदों के क्रमविधान के विषय में यह दृष्टिकोण है—

प्रधान मुख्य होने से पहले सत्य मनोयोग का, तत्पश्चात् उससे विपरीत, प्रतिपक्षी होने से असत्य मनोयोग का, अनन्तर उभयाश्रयी होने से सत्यमृषा का और अन्त में विकल्पविहीन मन का बोध कराने और आगम में इसी प्रकार से उल्लेख किये जाने के कारण असत्यामृषा मनोयोग का विधान किया है। इसी प्रकार से वचनयोग के भेदों के क्रम के लिये भी समझना चाहिये।

काययोग के भेदों में पहले वैक्रिय का निर्देश चतुर्गति के जीवों में सम्भव होने से किया है। तत्पश्चात् वैक्रिय से भी अधिक श्रेष्ठ होने से वैक्रिय के बाद आहारक योग का और मोक्षप्राप्ति का साधन होने से, वैक्रिय और आहारक से भी श्रेष्ठ तथा तन्निमित्तजन्य वैक्रियशरीर और आहारकशरीर का आधार होने से उनके बाद औदारिकशरीर का क्रमविधान किया है और कार्मण काययोग के अन्त होने पर संसार का भी अन्त हो जाता है, यह बताने के लिए सबसे अन्त में कार्मण काययोग का निर्देश किया है।

इस प्रकार से योगविषयक विवेचन जानना चाहिये।

उपयोग-विचारणा

अब योग के अनन्तर क्रम प्राप्त उपयोग के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

अन्नाणतिगं नाणाणि, पंच इइ अट्ठहा उ सागारो।
अचक्खुदंसणाइउचउहुवओगो अणागारो ॥५॥

शब्दार्थ—अन्नाणतिगं—(अज्ञानत्रिक) तीन अज्ञान, नाणाणि—ज्ञान, पंच—पांच, इइ—इस प्रकार, अट्ठहा—आठ प्रकार का, उ—और, सागारो—

साकारोपयोग, **अचक्खुदंसणाइ**—अचक्षुदर्शनादि, **चउह**—चार प्रकार का, **उवओगो**—उपयोग, **अणागारो**—अनाकार।

गाथार्थ—तीन अज्ञान और पांच ज्ञान, इस प्रकार साकारोपयोग आठ प्रकार का है और अचक्षुदर्शनादि चार प्रकार का अनाकारोपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा में उपयोग के प्रकारों, उनके भेदों की संख्या और नाम बताये हैं।

उपयोग का लक्षण पहले कहा जा चुका है। चैतन्यानुविधायी परिणामरूप यह उपयोग जीव के सिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। जीव की प्रवृत्ति में सदैव अन्वयरूप से उसका परिणमन होता रहता है। जीव का स्वरूप होने से उपयोग का वैसे तो कोई भेद नहीं किया जा सकता है, लेकिन वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।[1]

ये सामान्य और विशेष सर्वथा स्वतन्त्र धर्म नहीं हैं। क्योंकि जैसे सामान्य से सर्वथा भिन्न विशेष नाम का कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही अपने विशेष को छोड़कर केवल सामान्य भी कहीं पर नहीं पाया जाता है।[2] किन्तु सामान्य से अनुविद्ध होकर ही विशेष की उपलब्धि होती है और विशेष से अनुस्यूत सामान्य की।[3]

फिर भी इन दोनों में कथंचित् भेद है। क्योंकि सामान्य अन्वय, निर्विकल्प लक्षण वाला है और विशेष व्यतिरेक, सविकल्प स्वरूप वाला। उपयोग के द्वारा वस्तु के ये दोनों धर्म ग्रहण किये

---

१ सामान्यविशेषात्मकं वस्तु। —आप्तपरीक्षा ६

२ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥
—आप्तपरीक्षा ६

३ ण सामण्णवदिरित्तो विसेसो वि अत्थि, सामण्णणुविद्धस्सेव विसेसस्सुवलंभादो। —कषायपाहुड १/१/२०

जाते हैं। जिससे उपयोग के दो भेद हो जाते हैं—(१) अनाकारोपयोग और (२) साकारोपयोग।[1]

निर्विकल्प, सामान्य को ग्रहण करने वाले उपयोग को अनाकारोपयोग[2] और सविकल्प, विशेष को ग्रहण करने वाले उपयोग को साकारोपयोग कहते हैं।[3]

साकार और अनाकार उपयोग के क्रमशः ज्ञान और दर्शन ये अपर नाम हैं।[4] ज्ञान और दर्शन को क्रमशः साकार और अनाकार रूप मानने का कारण यह है कि ज्ञान पदार्थों को विशेष-विशेष करके अर्थात् नाम, जाति, गुण, लिंगादि धर्मों की ओर अभिमुख होकर जानता है, इसीलिये ज्ञान साकारोपयोगी है और दर्शन सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों के आकार-विशेष को ग्रहण न करके केवल निर्विकल्प रूप से स्वरूप मात्र सामान्य का ग्रहण करने वाला होने से अनाकारो-

---

१ (क) सो दुविहो णायव्वो सायारो चेवणायारो।
—गोम्मटसार, जीवकांड गाथा ६७१
(ख) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। —तत्त्वार्थसूत्र २/९

२ (क)·····अनाकारः, पूर्वोक्तस्वरूपाकारविवर्जित उपयोगः।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ७
(ख) यत्सामान्यमनाकारं। —पंचाध्यायी उ० ३९४
(ग) अविसेसिऊण जं गहण उवओगो सो अणागारो।
—गोम्मटसार, जीवकांड गाथा ६७४

३ (क) आकारः प्रतिवस्तुनियतो ग्रहण परिणामः 'आगारो उ विसेसो' इति वचनात्, सह आकारेण वर्त्तत इति साकारः।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ७
(ख) सहाकारेण वर्त्तत इति साकारः वस्तुस्वरूपावधारणरूपो विशेषज्ञानमिति। —पंचसंग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ. ६
(ग) साकारं तद्विशेषभाक्। —पंचाध्यायी उ० ३९४

४ साकारं ज्ञानम अनाकारं दर्शनमिति। —सर्वार्थसिद्धि २/९

पयोगी है। अर्थात् ज्ञान यह घट है, यह पट है, इत्यादि रूप से प्रत्येक पदार्थ को उन-उनकी विशेषताओं की मुख्यता से विकल्प करके पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करता है और दर्शन पदार्थगत सामान्य अंश को ग्रहण करता है। यही उनके साकार और अनाकार कहलाने का कारण है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि द्रव्य की स्वरूपव्यवस्था ही ज्ञान और दर्शन उपयोगों को क्रमशः साकार, अनाकार कहलाने की कारण है। क्योंकि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। उत्पाद-व्ययात्मक अंश पर्यायरूप और ध्रौव्यात्मक अंश त्रिकाल अस्तित्व वाला है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण पृथक्-पृथक् रूपों को धारण करने वाली होने से पर्यायों का कुछ-न-कुछ आकार अवश्य होता है, जिससे वे विशेष कहलाती हैं। लेकिन ध्रौव्यात्मक रूप उन पर्यायों में सदैव अनुस्यूत रहता है। पर्यायों के परिवर्तित होते रहने पर भी वस्तु के अस्तित्व—सदात्मकता में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता, न्यूनाधिकता नहीं आती। इसीलिये इस न्यूनाधिकता के न होने से वस्तु को अनाकार—सामान्यात्मक माना जाता है। उनमें से ज्ञान वस्तुगत विशेष धर्मों—उत्पत्ति-विनाशात्मक पर्यायों का बोध कराता है और दर्शन द्वारा वस्तु के सद्रूप ध्रौव्यात्मक सामान्यधर्म की प्रतीति होती है। इसी कारण ज्ञान और दर्शन साकार-अनाकारोपयोग के अपर नाम कहे जाते हैं।

इस प्रकार उपयोग के प्रकारों का विचार करने के पश्चात् अब इन दोनों भेदों के नाम और संख्या पर विचार करते हैं।

ज्ञानोपयोग के भेद

वस्तु के विशेषधर्मग्राही ज्ञानोपयोग (साकारोपयोग) के आठ भेद हैं—'अन्नाणतिगं नाणाणि पंच'। वस्तु के यथार्थ बोध को ज्ञान कहते हैं और विपरीत ज्ञान को अज्ञान। अज्ञान शब्द में 'अ' मिथ्या—विपरीत अर्थ का वाचक है। उसके तीन भेद हैं—१ मति-अज्ञान, २ श्रुत-अज्ञान,

३ विभंगज्ञान और ज्ञान के पांच भेद हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मन पर्यवज्ञान, ५ केवलज्ञान। इस प्रकार तीन अज्ञान और पांच ज्ञान, कुल मिलाकर ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।[1]

ज्ञानोपयोग के उक्त आठ भेदों में अज्ञानत्रिक को ग्रहण करने का कारण यह है कि मिथ्यात्व के उदय से ये विपरीत अभिप्राय वाले होते हैं, लेकिन जब ये तीनों ही सम्यक्त्व के सद्भाव में विपरीत अभिनिवेश का अभाव होने से सम्यक् होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। सारांश यह है कि ज्ञान जीव का गुण है और गुण, गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है। अज्ञान भी ज्ञान का रूप है लेकिन मिथ्यात्व के कारण विपरीत है, जो औपाधिक है और उस उपाधि के दूर होने पर सहज स्वाभाविक ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है।

उक्त आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।[2] पर-निमित्तसापेक्ष पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान को परोक्ष[3] और परनिमित्तों के बिना साक्षात आत्मा के द्वारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।[4]

---

१ (क) सागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?
गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। —प्रज्ञापना. पद २९
(ख) णाणं अट्ठवियप्पं मदि सुदि ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥
—द्रव्यसंग्रह, गाथा ५
(ग) सर्वार्थसिद्धि २/९

२ पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणं ति णं वेंति।
—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा २९९

३ जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
—प्रवचनसार, गाथा ५८

४ (क) जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।
—प्रवचनसार, गाथा ५८

मति-श्रुत ज्ञान और मति-श्रुत अज्ञान ये चार ज्ञान पदार्थ को जानने में पर-निमित्तों की अपेक्षा वाले होने से परोक्ष हैं तथा अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान तथा विभंगज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इनमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और विभंगज्ञान मूर्त पदार्थों को जानने वाले होने से देशप्रत्यक्ष हैं तथा मूर्त-अमूर्त सभी त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानने वाला होने से केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

अब ज्ञानोपयोग के उक्त आठ भेदों का सरलता से बोध कराने के लिये पहले पांच ज्ञानों के लक्षणों का विचार करते हैं और इन्हीं के बीच यथाप्रसंग तीन अज्ञानों के लक्षणों का भी उल्लेख किया जायेगा।

मतिज्ञान—'मन् अवबोधे' अर्थात् मन् धातु जानने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः मनन करना, जानना, उसे मति कहते हैं। अथवा पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो नियत वस्तु का बोध होता है, उसे मति कहते हैं। अर्थात जिस योग्य देश में विद्यमान विषय को इन्द्रियाँ जान सकें, उस स्थान में रहे हुए विषय का पांच इन्द्रियों और मन रूप साधन के द्वारा जो बोध होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।[1]

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये सभी मतिज्ञान के नामान्तर हैं।[2]

(ख) अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव·····प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।
—सर्वार्थसिद्धि १/१२

१ मननं मतिः यद्वा मन्यते इंद्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, योग्यदेशाऽवस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्चासौ ज्ञानं च मतिज्ञानम्।
—पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ६

२ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
—तत्त्वार्थसूत्र १/१३

श्रुतज्ञान—'श्रवणं श्रुतं'—श्रवण करना—सुनना, यह श्रुत है। वाच्य-वाचकभाव के सम्बन्धपूर्वक शब्दसम्बन्धी अर्थ को जानने में हेतुभूत ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान कहलाता है।[1] जलधारण आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ अमुक प्रकार की आकृति वाली वस्तु घट शब्द द्वारा वाच्य है—इत्यादि रूप से जिसमें समानपरिणाम प्रधान रूप से है, इस प्रकार शब्द और अर्थ की विचारणा का अनुसरण करके होने वाला इन्द्रिय और मनोनिमित्तक बोध श्रुतज्ञान है।[2] अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[3] जैसे कि घट शब्द को सुनकर और आँख से देखने के बाद उसके बनाने वाले, रंग, रूप आदि सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है।

अवधिज्ञान—'अव' शब्द अधः (नीचे) अर्थ का वाचक है। अतः 'अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यते अनेन इत्यवधिः'—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा नीचे-नीचे विस्तार वाली वस्तु जान सके, वह अवधिज्ञान है।[4] अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की योग्यता वाला है, अरूपी को ग्रहण नहीं करता है, यही

---

१ श्रवणं श्रुतं वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरूप-लब्धिविशेषः। —पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ६

२ .....शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमितो ज्ञानविशेषः, श्रुतं च तद्ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्। —पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ६

३ अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं.....।
—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ३१५

४ यह कथन वैमानिक देवों की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि वे नीचे-नीचे अधिक-अधिक जानते हैं, किन्तु ऊपर तो अपने विमान की ध्वजा तक ही जानते हैं। —सम्पादक

उसकी मर्यादा है। अतः रूपी द्रव्य को ही जानने रूप मर्यादा वाला आत्मा को जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।[1] अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने वाले आत्मा के व्यापार को अवधिज्ञान कहते हैं।[2]

ये तीनों ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब मिथ्यात्वमोह के उदय से कलुषित होते हैं, तब वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से न जानने वाले होने के कारण अनुक्रम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान कहलाते हैं।[3] विभंगज्ञान में 'वि' शब्द विपरीत अर्थ का वाचक है। अतः जिसके द्वारा रूपी द्रव्य का विपरीत भंग—बोध होता है, वह विभंगज्ञान कहलाता है।[4] यह ज्ञान अवधिज्ञान से उलटा है।

मनःपर्यवज्ञान—'मन', 'परि' और 'अव' इन तीन का संयोगज रूप मनःपर्यव शब्द है। इनमें से 'परि' शब्द सर्वथा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'अवनं अवः'—जानना, 'मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः'—मन के भावों का सर्वथा रूप से जो ज्ञान होता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं, अर्थात् जिसके द्वारा ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों, विचारों को जाना जा सके, उसे मनःपर्यव या मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। अथवा संपूर्णतया मन को जो जाने वह मनःपर्याय

---

१ (क) यद्वा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम्।
—पंचसंग्रह मलयगिरि टीका, पृ. ६

(ख) रूपिष्ववधेः। —तत्त्वार्थसूत्र १/२८

२ यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः अवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानम्। —नन्दीसूत्र टीका

३ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। —तत्त्वार्थसूत्र १/३२

४ विभंगमिति विपरीतो भङ्गः परिच्छित्तिप्रकारो यस्य तद् विभङ्गम्।
—पंचसंग्रह मलयगिरि टीका, पृ. ६

अथवा मन की पर्यायों—धर्म—बाह्यवस्तु के चिन्तन करने के प्रकार का विचार करने पर मनोवर्गणायें विशिष्ट आकार रूप में परिणत होती हैं, उनका जो ज्ञान है, वह मनःपर्यायज्ञान कहलाता है।

केवलज्ञान—केवल अर्थात् एक। अतः एक जो ज्ञान वह केवलज्ञान है। एक होने का कारण यह है कि यह ज्ञान मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञाननिरपेक्ष है। जैसा कि शास्त्र में कहा है—"[illegible] छाउमत्थिए नाणे"[1] मत्यादि छाद्मस्थिक ज्ञानों के नष्ट होने पर केवलज्ञान होता है। अथवा केवल अर्थात् शुद्ध। अतः पूर्ण ज्ञान को आवृत करने वाले कर्ममलरूप कलंक का सर्वथा नाश होने से शुद्ध जो ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् सम्पूर्ण। अतः केवलज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होने से सम्पूर्णरूप में जो उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् असाधारण। अतः उसके सदृश दूसरा ज्ञान न होने से जो असाधारण ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् अनन्त। अनन्त ज्ञेय वस्तुओं को जानने वाला होने से अनन्त जो ज्ञान है, वह केवलज्ञान है।[2]

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ५३९

२ (क) शुद्धं वा केवलम्, तदावरणमलकलङ्कविगमात्। सकलं वा केवलम्, प्रथमत एवाऽशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः। असाधारणं वा केवलं, अनन्यसदृशत्वात्। अनन्तं वा केवलं, ज्ञेयानन्तत्वात्। केवलं च तद्ज्ञानं च केवलज्ञानम्।

—पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ७

(ख) केवलमसहायमद्वितीयं ज्ञानं केवलज्ञानमिति।

—पंचसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ६

(ग) संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं॥

—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ४६०

सारांश यह कि जो ज्ञान केवल, असहाय और अद्वितीय हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

ये पांच ज्ञान और तीन अज्ञान, साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के आठ भेद हैं।

दर्शनोपयोग के भेदों के लक्षण

साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के आठ भेदों के लक्षणों का निर्देश करने के पश्चात् अब दर्शनोपयोग (अनाकारोपयोग) के भेद और उनके लक्षण बताते हैं।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—१. अचक्षुदर्शन २. चक्षुदर्शन ३. अवधिदर्शन ४. केवलदर्शन।[1]

नाम, जाति, लिंग आदि विशेषों की विवक्षा किये बिना पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे दर्शन कहते हैं।[2]

अतः चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रियों और मन से अपने-अपने विषय का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं और चक्षुइन्द्रिय के द्वारा अपने विषयभूत पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान हो, वह चक्षुदर्शन है।[3]

---

१ चक्खु अचक्खू ओही दंसणमधकेवलं णेयं। —द्रव्यसंग्रह, गाथा ४

२ (क) जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुआयारं।
अविसेसिऊण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समए॥ —दि. पंचसंग्रह १/१३८
(ख) भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि॥
—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ४८२

३ (क) चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं बेंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति॥
—गोम्मटसार जीवकांड, ४८३

(क्रमशः)

पांच इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना मर्यादा में रहे हुए रूपी पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान अर्थात् उनके सामान्य अंश का ग्रहण हो, वह अवधिदर्शन है।[1]

लोक तथा अलोक में रहे हुए समस्त रूपी-अरूपी पदार्थों का जो सामान्य बोध, वह केवलदर्शन कहलाता है।[2]

दर्शनोपयोग के उक्त चार भेदों में से अचक्षु, चक्षु और अवधि दर्शन का अंतरंग कारण अपने-अपने दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम और केवलदर्शन का कारण केवलदर्शनावरण कर्म का क्षय है।

दर्शनोपयोग के अचक्षुदर्शन आदि चार भेद जानने पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

प्रश्न—इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्यबोध को संक्षेप में इन्द्रियदर्शन कहकर अवधि तथा केवल दर्शन, इस प्रकार दर्शनरूप अनाकारोपयोग के तीन भेद कहना युक्तिसंगत है। यदि विस्तार से ही भेद बतलाना इष्ट है तो स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियों और मन द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्यबोध को १ स्पर्शनेन्द्रिय-दर्शन, २ रसनेन्द्रियदर्शन, ३ घ्राणेन्द्रियदर्शन, ४ चक्षुरिन्द्रियदर्शन ५ श्रोत्रेन्द्रियदर्शन और ६ मनोदर्शन कहकर अवधि और केवल दर्शन सहित दर्शनोपयोग के आठ भेद बताना चाहिये। फिर दर्शनोपयोग के चार भेद ही क्यों बतलाये हैं?

उत्तर—लोकव्यवहार में चक्षु की प्रधानता होने से उसके द्वारा

(ख) तत्र अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहण अचक्षुर्दर्शनम्। चक्षुषादर्शनं रूप सामान्यग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्।
—पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ७

१ रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्। —पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ७

२ सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं दर्शनं केवलदर्शनं।
—पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ७

होने वाले सामान्यबोध को चक्षुदर्शन कहकर शेष इन्द्रियों तथा मन द्वारा होने वाले सामान्यबोध का विस्तार न करके लाघव के लिये पृथक्-पृथक् दर्शन न बताकर अचक्षुदर्शन में उनका समावेश कर लिया गया है। जिससे दर्शनोपयोग के चार भेद ही मानना युक्ति-संगत है।

एतद्विषयक विशेष विवेचन प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा १० के टब्बा में किया गया है।

इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद और उनके लक्षण जानना चाहिये।[1]

उपयोगों का क्रमविन्यास

साकारोपयोग के पश्चात् अनाकारोपयोग का क्रमविधान प्रधाना-

---

१ चक्षुदर्शन आदि केवलदर्शन पर्यन्त दर्शन के चार भेद प्रसिद्ध हैं। मनःपर्यायदर्शन नहीं मानने का कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की तरह स्वसुखेन विषयों को नहीं जानता है, किन्तु परकीय मनप्रणाली से जानता है। यद्यपि मन अतीत व अनागत अर्थों का विचार, चिन्तन तो करता है, लेकिन देखता नहीं। इसी तरह मनःपर्यायज्ञानी भी भूत और भविष्यत् को जानता तो है किन्तु देखता नहीं। वह वर्तमान भी मन को विषय-विशेषाकार से जानता है, अतः सामान्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मनःपर्यायदर्शन नहीं माना जाता है। परन्तु किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने मनःपर्यायदर्शन को भी स्वीकार किया है—'केचित्तुमन्यन्ते प्रज्ञापनायां मनःपर्यायज्ञाने दर्शनतापठ्यते' (तत्त्वार्थभाष्य १/२४ की टीका)

यही दृष्टि श्रुतदर्शन न मानने के लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तथा श्रुतज्ञान का व्यापार बाह्य पदार्थ है, अंतरंग नहीं; जबकि दर्शन का विषय अंतरंग पदार्थ है। इसलिये श्रुतज्ञान के पहले दर्शन नहीं होने से श्रुतदर्शन को पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

प्रधान की विवक्षा से किया गया है। अर्थात् प्रधान होने से पहले साकारोपयोग का और उसके बाद अप्रधानता के कारण अनाकारोपयोग का क्रम उपन्यास किया है[1] तथा साकारोपयोग के आठ भेदों में प्रथम अज्ञान के भेदों का निर्देश यह बताने के लिए किया है कि सभी जीवों को मिथ्यात्व का सद्भाव रहने से, पहले अज्ञान होता है और उसके बाद सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान कहलाता है।[2] दर्शनोपयोग के भेदों में अचक्षुदर्शन का प्रथम प्रतिविधान करने का कारण यह है कि वह सभी जीवों में सामान्यरूप से पाया जाता है और उसके पश्चात् तदावरण कर्मों का क्षयोपशम होने पर चक्षुदर्शन आदि दर्शनोपयोगों की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार से संक्षेप में उपयोग के भेदों का स्वरूप समझना चाहिये।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के लक्षण

योग और उपयोग के भेदों का निरूपण करने के पश्चात् अब योगोपयोगमार्गणा के विवेचन की रूपरेखा के अनुसार जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों में इनका प्रतिविधान करना संगत है। लेकिन इसके पूर्व जीवस्थान आदि तीनों का स्वरूप समझना आवश्यक होने से संक्षेप में उनके लक्षण बतलाते हैं। जो इस प्रकार हैं—

जीवस्थान—जो जीता है, जीता था और जीयेगा, इस प्रकार के त्रैकालिक जीवनगुण वाले को जीव कहते हैं।[3]

---

१ प्रधानत्वात् साकारोपयोगः प्रथममुक्तः, तदनन्तरमनाकारोपयोगोऽप्रधानत्वाद्। —पंचसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ६

२ अज्ञानानि पूर्वं भवन्ति पश्चाद् ज्ञानानीत्यनेककारणेन पूर्वमज्ञानानामुपन्यासः पश्चात् ज्ञानानां। —पंचसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ६

३ .....त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत् जीविष्यति' इति वा जीवः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक १/४

जीव को जीवित रहने के आधार हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास, ये द्रव्यप्राण[1] और ज्ञान, दर्शन, चैतन्य आदि भावप्राण कहलाते हैं। अतः जीव का लक्षण यह हुआ कि जो द्रव्य और भाव प्राणों से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा, वह जीव है।[2]

जीव अनन्त हैं और जीवत्व की अपेक्षा सभी जीवों का स्वरूप एक जैसा है। लेकिन जीवों के दो प्रकार हैं -संसारी और मुक्त। जन्म-मरणरूप संसार में परिभ्रमण करने वाले कर्मबद्ध जीव संसारी और निःशेषरूप से कर्मावरण का क्षय करके आत्मस्वरूप में अवस्थित जीव मुक्त कहलाते हैं। इस प्रकार कर्मसहित और कर्मरहित अवस्था की दृष्टि से जीवों के ये भेद हैं।

संसारी जीव भी अनन्त हैं और मुक्त जीव भी अनन्त हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों में चैतन्यरूप भावप्राण तो समान रूप से रहते हैं। लेकिन संसारी जीव ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणों के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों सहित हैं और मुक्त जीवों में सिर्फ ज्ञान, दर्शन आदि गुणात्मक भावप्राण होते हैं। जब तक इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण हैं और जीव कर्मबद्ध हैं, तब तक वे यथायोग्य इन्द्रियों आदि से युक्त हैं और कर्ममुक्त हो जाने पर उनमें सिर्फ ज्ञान, दर्शन आदि रूप चैतन्यपरिणाम—भावप्राण रहते हैं।

---

१ स्पर्शन, रसन आदि पांच इन्द्रिय, मन, वचन और काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, कुल मिलाकर दस द्रव्यप्राण होते हैं—

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाएसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥

—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा १२९

२ तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥

—द्रव्यसंग्रह, गाथा ३

मुक्त जीवों के निष्कर्म होने से उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। सभी स्वभाव से परिपूर्ण और समान हैं, किन्तु संसारी जीवों के कर्म-सहित होने से उनमें गति, जाति, शरीर आदि-आदि की अपेक्षाओं से अनेक प्रकार की विभिन्नतायें, विविधतायें और विचित्रतायें दिखाई देती हैं। ये कर्मजन्य अवस्थायें अनन्त हैं, जिनका एक-एक जीव की अपेक्षा ज्ञान करना छद्मस्थ व्यक्ति के लिए सहज नहीं है, किन्तु जीवस्थान द्वारा उनका स्पष्टरूप से बोध होता है।

सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवन्तों ने समस्त संसारी जीवों का एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि के रूप में विभागानुसार वर्गीकरण करके कुछ वर्ग बताये हैं। इनमें सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

संसारी जीवों के इन वर्गों अर्थात् सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि रूप में होने वाले प्रकारों—भेदों को जीवस्थान कहते हैं।

कर्मसाहित्य में प्रयुक्त जीवस्थान शब्द के लिये आगमों में 'भूतग्राम'[1] और दिगम्बर ग्रन्थों में 'जीवसमास'[2] शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन शब्दप्रयोग के सिवाय अर्थ और भेदों में अन्तर नहीं है।

मार्गणास्थान—मार्गणा का अर्थ है गवेषणा, मीमांसा, विचारणा,

---

१ समवायांग १४/१

२ जेहि अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥
—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ७०
—दि. पंचसंग्रह, १/३२
—जिन धर्मविशेषों के द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकार की जातियां जानी जाती हैं, उन पदार्थों का संग्रह करने वाले धर्मविशेषों को जीवसमास जानना चाहिये।

अनुसन्धान आदि। ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा, ये एकार्थवाचक नाम हैं। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार से प्रवचन में देखे गये हैं, उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार किया जाये, उन्हें मार्गणा कहते हैं।[1] मार्गणाओं में जीवों की बाह्य गति, इन्द्रिय, शरीर आदि की विचारणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानों, योग, उपयोग, जीवस्थानों आदि का विचार किया जाता है।

गुणस्थान—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को गुण और उनके स्थान अर्थात् शुद्धि-अशुद्धि कृत गुणों के स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहते हैं। अथवा दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनों संसारी जीवों की अवस्थाओं के दर्शक हैं, तथापि इनमें यह अन्तर है कि—

जीवस्थान जातिनामकर्म और पर्याप्त-अपर्याप्तनामकर्म के औदयिकभाव हैं।

मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीयकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप हैं।

गुणस्थान मात्र मोहनीयकर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव रूप तथा योग के भावाभाव रूप हैं।

---

१ (क) जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति॥
—गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा १४०

(ख) गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ३ में 'विस्तार' और 'आदेश' ये दो शब्द मार्गणा के नामान्तर कहे हैं।

मार्गणास्थान सहभावी और गुणस्थान क्रमभावी हैं। गुणस्थान एक के पश्चात् दूसरा होता है। एक का दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। लेकिन गुणस्थानों का क्रम बदलने पर भी मार्गणा के चौदह भेदों में से कुछ एक मार्गणाओं को छोड़कर प्रायः सभी मार्गणायें एक जीव में एक साथ पाई जा सकती हैं।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के चौदह-चौदह भेद होते हैं। जिनके नाम और उनके लक्षण यथास्थान आगे कहे जायेंगे।

जीवस्थानों में योगप्ररूपणा

अब ग्रन्थकार आचार्य क्रमनिर्देशानुसार पहले जीवस्थानों में योगों का निरूपण करते हैं—

विगलासन्नीपज्जत्तएसु लब्भंति कायवइयोगा।
सव्वेवि सन्निपज्जत्तएस सेसेसु काओगो ॥६॥

शब्दार्थ—**विगलासन्नीपज्जत्तएसु**—विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पर्याप्तकों में, **लब्भंति**—प्राप्त होते हैं, **कायवइयोगा**—काय और वचन योग, **सव्वेवि**—सभी, **सन्निपज्जत्तएसु**—संज्ञी पर्याप्तकों में, **सेसेसु**—शेष में, **काओगो**—काययोग।

गाथार्थ—पर्याप्त विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियों में काय और वचन योग तथा संज्ञी पर्याप्तकों में सभी योग होते हैं और शेष जीवस्थानों में काययोग ही होता है।

विशेषार्थ—गाथा में सामान्य से जीवस्थानों में योगों का निर्देश किया है।

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य ने स्वयं जीवस्थानों की संख्या और नामों का निर्देश आगे किया है[1] लेकिन विशेष उपयोगी और आवश्यक होने से यहाँ उनकी संख्या और नाम बतलाते हैं।

समस्त संसारी जीवों के अधिक-से-अधिक चौदह वर्ग हो सकते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

---

१ बंधकद्वार, गाथा ८२

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, २. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, ३. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ४. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ५. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ६. द्वीन्द्रिय पर्याप्त, ७. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ८. त्रीन्द्रिय पर्याप्त, ९. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, १०. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, ११. असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, १२. असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, १३. संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, १४. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त।[1]

इन वर्गों की ऐसी विशेषता है कि संसारी जीवों के अनन्त होने पर भी इन चौदह वर्गों में से किसी-न-किसी वर्ग में उनका समावेश हो जाता है।

जीवस्थान के भेदों का आधार

प्राप्त इन्द्रियों की मुख्यता से उक्त चौदह भेद बताये गये हैं। इन्द्रियापेक्षा संसारी जीवों की पांच जातियाँ (प्रकार) हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। जाति का अर्थ है तद्भव-सादृश्य लक्षणवाला सामान्य।[2] अर्थात् जिस शब्द के बोलने या सुनने से सभी समान गुणधर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये, उसे जाति कहते हैं। जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस आदि बोलने और सुनने से सभी प्रकार के मनुष्यों, गायों, भैंसों आदि का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि कहने से एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले आदि सभी जीवों का ग्रहण हो जाता है। जीवों में इस प्रकार के अव्यभिचारी सादृश्य से एकपने का बोध कराने का कारण जाति-नामकर्म है।

---

१ (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा ११, १२ (ख) समवायांग, १४/१
(ग) गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ७२
वि. पंचसंग्रह में अपेक्षाभेद से जीवस्थानों के चौदह के अतिरिक्त इक्कीस, तीस, बत्तीस, छत्तीस, अड़तीस, अड़तालीस, चउवन और सत्तावन भेद भी बतलाये हैं, जिनका विवरण परिशिष्ट में देखिये।

२ तत्थ जाइ तब्भवसारिच्छलक्खण-सामण्णं।
—धवला १/१, १, १/१७/५

अपने-अपने विषय के ज्ञान और सेवन (ग्रहण) करने में जो स्वतंत्र है, उसे इन्द्रिय कहते हैं।[1] जैसे नेत्र रूप का ज्ञान करने में स्वतंत्र है; किन्तु अन्य इन्द्रियाँ रूप को ग्रहण नहीं कर सकती हैं। जो जिस इन्द्रिय का विषय होता है, वह उसी के द्वारा ग्रहण किया जाता है। यही इन्द्रियों की स्वतंत्रता का अर्थ है।

इन्द्रियों के पांच भेद हैं[2]—१. स्पर्शन, २. रसन, ३. घ्राण, ४. चक्षु और ५. श्रोत्र।[3] ये पाँचों इन्द्रियाँ भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की हैं।[4] द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक होने से जड़ और भावेन्द्रियाँ चेतनाशक्ति की पर्याय होने से भावरूप हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मविशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले उपयोगात्मक ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते हैं।[5] द्रव्येन्द्रियाँ शरीर, अंगोपांग और निर्माण नामकर्म से निर्मित होती हैं।

इन दोनों द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के दो-दो भेद हैं। निर्वृत्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं। इन्द्रियों की आकार-रचना को निर्वृत्ति कहते हैं और यह भी बाह्य और अंतरंग के भेद से दो प्रकार

---

१ स्वेषां विषयः स्वविषयस्तत्र निश्चयेन निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि।
—धवला १/१, १, ४/१३५

२ (क) गोयमा ! पंचइन्दिया पण्णत्ता। —प्रज्ञापना. १५/१/१६१
(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१५

३ (क) प्रज्ञापना. इन्द्रियपद १५
(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/२०

४ (क) गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—दव्विंदिया य भाविंदिया य।
—प्रज्ञापना. १५/१
(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१६

५ मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।
भाविंदियं तु दव्वं देहुदयजदेहचिण्हं तु।
—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा १६४

की हैं। इन्द्रियों की बाह्य आकार-रचना को बाह्य निर्वृत्ति और आन्तरिक आकार-रचना को आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं। आभ्यंतर निर्वृत्ति की विषय ग्रहण करने की शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। उपकरणेन्द्रिय निर्वृत्ति का उपकार करती है, इसलिए इसके भी आभ्यंतर और बाह्य, ये दो भेद हो जाते हैं। जैसे कि नेत्र इन्द्रिय में कृष्ण-शुक्ल मण्डल आभ्यंतर उपकरण है तथा पलक, बरौनी आदि बाह्य उपकरण।

भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग यह दो भेद होते हैं।[1] मति-ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम—चेतनाशक्ति की योग्यता विशेष को लब्धि-रूप तथा लब्धिरूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय-ग्रहण में होने वाली प्रवृत्ति को उपयोगरूप भावेन्द्रिय कहते हैं।

जीवों के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि पांच भेद मानने का कारण द्रव्येन्द्रियाँ हैं। बाहर में प्रगट रूप से जितनी-जितनी इन्द्रियाँ दिख-लाई देती हैं, उनके आधार पर ये एकेन्द्रिय आदि भेद किये जाते हैं। जैसे कि एकेन्द्रिय जीवों में सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। इसीलिए उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं और द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में स्पर्शनेन्द्रिय के अनंतर क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र में से उत्तरोत्तर एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है। लेकिन सभी संसारी जीवों में भावेन्द्रियाँ पांचों होती हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के पांच प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. तेउकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय।[2] इनके मात्र एक स्पर्श-नेन्द्रिय होने से ये स्थावर कहलाते हैं और द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के

---

१ (क) प्रज्ञापना. २/१५
(ख) लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/१८

२ (क) स्थानांग ५/३९३
(ख) पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। —तत्त्वार्थसूत्र २/१३

जीव त्रस कहलाते हैं।[1] पृथ्वीकाय आदि पांचों प्रकार के स्थावर—एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में सूक्ष्म या बादर कृत भेद नहीं है। वे सभी बादर ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में कोई-कोई जीव मनसहित और कोई-कोई मनरहित होते हैं। जो पंचेन्द्रिय जीव मनसहित हैं, उन्हें संज्ञी—समनस्क और मनरहित पंचेन्द्रिय जीवों को असंज्ञी—अमनस्क कहते हैं।

एकेन्द्रियों के सूक्ष्म, बादर भेद का कारण

एकेन्द्रियों के सूक्ष्म और बादर, यह दो भेद मानने का कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव आँखों से तो नहीं देखे जा सकते हैं, लेकिन इनका अस्तित्व ज्ञानगम्य है और बादर शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ आँखों से भी दिखाई देते हैं। सूक्ष्म और बादर शरीर की प्राप्ति सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से होती है। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर स्वयं न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। अर्थात् यह व्याघात से रहित है तथा अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य होता है और यह प्रत्यक्षसिद्ध भी है। जैसे सूक्ष्म होने से अग्नि लोहे के गोले में प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्मनामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर भी लोक के किसी भी प्रदेश में प्रविष्ट हो सकता है।

अन्य को बाधा पहुँचाने वाले शरीर का निवर्तक बादरनामकर्म है। आँखों से दिखलाई देना, आँखों से देखा जा सके, चक्षु इन्द्रिय का विषय हो—यही बादर का अर्थ नहीं है। क्योंकि एक-एक बादरकाय वाले पृथ्वीकाय आदि का शरीर प्राप्त होने पर भी वह देखा नहीं जा सकता है। परन्तु बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे उनके शरीर

---

१ (क) संसारसमावन्नगा तसे चेव थावरे चेव। —स्थानांग २/५७
(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१२

समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और उससे वे दृष्टिगोचर होते हैं । बादरनामकर्म के कारण ही बादर जीवों का मूर्त्त द्रव्यों के साथ घात-प्रतिघात आदि होता है ।

बादर और सूक्ष्म का यह विचार अल्पाधिक अवगाहना या प्रदेशों की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए । क्योंकि सूक्ष्म शरीर से भी असंख्यात-गुणहीन अवगाहना वाले और बादरनामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए बादर शरीर की उपलब्धि होती है तथा तैजस और कार्मण शरीर, अनंत प्रदेशी हैं, किन्तु सघन और सूक्ष्म परिणमन वाले होने से इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते हैं ।

सूक्ष्म और बादर, ये दोनों [illegible] प्रकृतियाँ हैं, लेकिन इनकी अभिव्यक्ति शरीर के पुद्गलों के माध्यम से होती है । जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

सारांश यह है कि बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है । जिससे उनके शरीर में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और वे दृष्टिगोचर हो जाते हैं । घात-प्रतिघात आदि होने लगता है । जबकि सूक्ष्मनाम-कर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में इस प्रकार का सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न करता है कि वे अनन्त शरीर एकत्रित हो जाने पर भी दृष्टिगोचर नहीं हो पाते हैं और व्याघातरहित हैं । कर्मशक्ति की विचित्रता का यह परिणाम है ।

पंचेन्द्रियों में संज्ञी, असंज्ञी भेद मानने का कारण

संसार में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के रूप में विद्यमान समस्त जीवों में से तिर्यंचगति के जीवों के अतिरिक्त शेष नारक, मनुष्य और देव पंचेन्द्रिय ही होते हैं । उन्हें स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त पांचों इन्द्रियाँ होती हैं । लेकिन तिर्यंच जीवों में किन्हीं को एक, किन्हीं को दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियाँ होती हैं । एकेन्द्रिय से लेकर चतुरि-न्द्रिय तक के जीवों में मन नहीं होने से असंज्ञी और पंचेन्द्रिय वाले

तिर्यंचों में से कोई मनसहित और कोई मनरहित होते हैं। इसीलिए पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते हैं।

संज्ञा शब्द के तीन अर्थ हैं १—नामनिक्षेप, जो लोक-व्यवहार के लिए प्रयोग में लाया जाता है, २—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह की इच्छा, ३. धारणात्मक या ऊहापोहरूप विचारणात्मक ज्ञानविशेष। जीवों के संज्ञित्व और असंज्ञित्व के विचारप्रसंग में संज्ञा का अर्थ मानसिक क्रियाविशेष लिया जाता है। यह मानसिक क्रियाविशेष ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक होती है। अतः ज्ञान और अनुभव ये संज्ञा के दो भेद हैं। अनुभवसंज्ञा सभी जीवों में पाई जाती है, अतः वह भी संज्ञी-असंज्ञी के व्यवहार की नियामक नहीं है। किन्तु ज्ञानात्मक संज्ञा संज्ञी और असंज्ञी के भेद का कारण है। इसीलिए नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।[1] नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलंबन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर क्रमशः अधिक-अधिक है। अत्यन्त अल्प विकास वाले एकेन्द्रिय जीवों में अव्यक्त चेतनारूप ओघ (सामान्य) ज्ञानसंज्ञा पाई जाती है। द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में इष्टानिष्ट विषयों में प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा होती है। इस विकास में भूतकाल का स्मरणरूप ज्ञान तो होता है, लेकिन सुदीर्घ भूतकाल का नहीं। तीसरी ज्ञानसंज्ञा दीर्घकालोपदेशिकी है, जिसमें सुदीर्घ भूत के अनुभवों का स्मरण और वर्तमान के कर्त्तव्य का निर्धारण किया जाता है। देव, नारक, गर्भज मनुष्य-तिर्यंचों में यह संज्ञा

---

१ णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।

—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ६५६

पाई जाती है। चौथी ज्ञानसंज्ञा दृष्टिवादोपदेशिकी है। इसमें विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है।[1]

उक्त चारों विभागों में से संज्ञी-व्यवहार की कारण दीर्घकालोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी, यह दो ज्ञानसंज्ञायें हैं और ओघ तथा हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले जीव असंज्ञी हैं।[2]

इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी भेदों को लेकर एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों के सात प्रकार हो जाते हैं। ये सातों प्रत्येक अपर्याप्त और पर्याप्त भी होते हैं।

अब इनके पर्याप्त और अपर्याप्त मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या

पर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्तनामकर्म के उदय से पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्तनामकर्म का उदय होने पर उनकी रचना नहीं होती है।

पर्याप्ति नाम शक्ति का है। अतः आहारादि पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन में कारणभूत आत्मा की शक्तिविशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह शक्ति पुद्गलों के उपचय से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिस्थान में आये हुए जीवों ने जो पुद्गल ग्रहण किये हैं और प्रति समय दूसरे भी पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, अथवा जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हुए पुद्गलों के सम्बन्ध से उस रूप में परिणत होते

---

१ इन हेतुवादोपदेशिकी, दीर्घकालिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञाओं का विचार दिगम्बर ग्रंथों में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

२ विशेषावश्यकभाष्यगत संज्ञी-असंज्ञी-सम्बन्धी विवेचन परिशिष्ट में देखिये।

जाते हैं. उन पुद्गलों को खल-रसादि रूप में परिणत करने की कारणभूत शक्तिविशेष पर्याप्ति कहलाती है। जैसे कि पेट के अन्दर रहे हुए पुद्गलविशेषों को आहार के पुद्गलों को खल-रसादि रूप में परिणत करने की शक्तिविशेष होती है।

गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अतः इस कार्यभेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं—

१ आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. प्राणापानपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति और ६. मनःपर्याप्ति।[1]

१. जिस शक्ति के द्वारा बाह्य आहार को ग्रहण करके खल—विष्टा, मूत्र और रस—सार पदार्थ के रूप में परिणत किया जाये, उसे 'आहारपर्याप्ति' कहते हैं।

२. जिस शक्ति के द्वारा रसरूप आहार को रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य, इन सात धातुरूप परिणत किया जाये वह शरीरपर्याप्ति' है।

३. जिस शक्ति के द्वारा धातुरूप परिणाम को प्राप्त आहार इन्द्रियरूप परिणत हो, उसे 'इन्द्रियपर्याप्ति' कहते हैं।

४. जिस शक्ति के द्वारा उच्छ्वासयोग्य वर्गणाओं में से पुद्गलदलिकों को ग्रहण करके उच्छ्वास में परिणत कर और उनका अवलंबन लेकर छोड़ा जाये, वह 'प्राणापानपर्याप्ति' है।

५. जिस शक्ति के द्वारा भाषायोग्य वर्गणाओं में से दलिकों को ग्रहण करके भाषारूप परिणत कर और उनका अवलम्बन लेकर पुनः छोड़ना 'भाषापर्याप्ति' है।

६. जिस शक्ति के द्वारा मनोयोग्य वर्गणाओं के दलिकों को ग्रहण

---

१ आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो।

—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ११८

कर मन रूप से परिणत करके उनका अवलम्बन लकर छोड़ना 'मनः-पर्याप्ति' है।[1]

पर्याप्तियों के इन छह भेदों में से एकेन्द्रिय के आदि की चार, विकलत्रिक और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में आदि की पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय में छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।[2]

यद्यपि उत्पत्ति के प्रथम समय से ही सभी जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को युगपत् प्रारम्भ करते हैं, लेकिन पूर्ण अनुक्रम से करते हैं।[3] सर्वप्रथम पहली आहारपर्याप्ति पूर्ण करते हैं, उसके बाद शरीरपर्याप्ति, तत्पश्चात् इन्द्रियपर्याप्ति, इस प्रकार अनुक्रम से चौथी, पांचवीं और छठी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं। आहारपर्याप्ति तो उत्पत्ति के प्रथम समय में पूर्ण होती है और शेष पर्याप्तियाँ अनुक्रम से अन्तर्मुहूर्त काल में पूर्ण होती हैं। किन्तु सभी पर्याप्तियों को पूर्ण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है।

यद्यपि आगे-आगे पर्याप्ति के पूर्ण होने में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक-अधिक काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

---

१ प्रज्ञापनासूत्रटीका और तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्तिसम्बन्धी व्याख्या का सारांश परिशिष्ट में देखिये।

२ चत्तारि पंच छप्पि य एगिंदिय विगल संनीणं ॥
—बृहत्संग्रहणी ३४९
—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ११८

३ (क) पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं।
—गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ११९

(ख) उत्पत्तिप्रथमसमय एव चैता यथायथं सर्वा अपि युगपन्निष्पादयितुमारभ्यन्ते, क्रमेण च निष्ठामुपयांति।
—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका, पृ. ८

क्योंकि असंख्यात के असंख्यात भेद होने से असंख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद होते हैं।[1]

उत्पत्ति के प्रथम समय में आहारपर्याप्ति के पूर्ण होने के बारे में जिज्ञासु का प्रश्न है कि—

प्रश्न—यह कैसे जाना जाये कि आहारपर्याप्ति उत्पत्ति के प्रथम समय में ही पूर्ण होती है ?

उत्तर—आहारपर्याप्ति को उत्पत्ति के प्रथम समय में पूर्ण होने के कारण को स्पष्ट करते हुए प्रज्ञापनासूत्र में बताया है कि -

'आहारपज्जत्तिए अपज्जत्ते णं भंते ! किमाहारए अणाहारए ?'

हे भगवन् ! आहारपर्याप्ति द्वारा अपर्याप्त क्या आहारी होता है या अनाहारी होता है ?

इसके उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को बताया—

'गोयमा ! नो आहारए अणाहारए !'

हे गौतम ! आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव आहारी नहीं होते हैं, परन्तु अनाहारी होते हैं।

इसलिए आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त विग्रहगति में ही सम्भव

---

१ औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर में पर्याप्तियां होती हैं। औदारिक शरीर वाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी और उसके बाद तीसरी, इस प्रकार चौथी, पांचवीं, छठी, प्रत्येक क्रमशः अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त के बाद पूर्ण करता है।

वैक्रिय, आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूरी कर लेते हैं और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके बाद तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी पर्याप्ति क्रमशः एक-एक समय में पूरी करते हैं। किन्तु देव पांचवीं और छठी, इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं।

है। उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त सम्भव नहीं है। क्योंकि उत्पत्तिस्थान को प्राप्त जीव प्रथम समय में ही आहार करता है। इससे स्पष्ट है कि आहारपर्याप्ति की पूर्णता उत्पत्ति के प्रथम समय में हो होती है।

यदि उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव आहारपर्याप्ति द्वारा अपर्याप्त होता तो उत्तरसूत्र को इस प्रकार कहना चाहिए था कि 'सिय आहारए सिय अणाहारए'—आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त आहारी भी होता है और अनाहारी भी होता है। जैसा कि शरीर आदि पर्याप्तियों के सम्बन्ध में कहा है—'सिय आहारए सिय अणाहारए—कदाचित् आहारी भी होता है और कदाचित् अनाहारी भी होता है।'

सारांश यह है कि आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रहगति में अनाहारी होता है और उत्पत्तिस्थान में आकर आहार करता है, तब आहारी होता है, ऐसा तभी कहा जा सकता है कि जिस समय उत्पत्ति-स्थान में आकर उत्पन्न होता है और उस समय यदि आहारपर्याप्ति पूर्ण न हो। परन्तु उसी समय आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है। इसलिए आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त तो विग्रहगति में ही होता है और उस समय अनाहारी होता है। इसी से ही आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त का अनाहारित्व विग्रहगति में ही सम्भव है और शरीरादि पर्याप्ति से अपर्याप्त विग्रहगति में अनाहारी होता है और उत्पत्तिस्थान में उत्पन्न होने के बाद जब तक शरीरादि पर्याप्तियां पूर्ण न करे, तब तक उस-उस पर्याप्ति से अपर्याप्त आहारी होता है। यानी शरीरादि पर्याप्ति से अपर्याप्त अनाहारी और आहारी, इस तरह दोनों प्रकार का होता है।

जो स्वयोग्य पर्याप्तियों से विकल हैं, अर्थात् पूर्ण नहीं करते हैं, वे अपर्याप्त और स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने वाले जीव पर्याप्त कहलाते हैं। अर्थात् पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्गलों को आहार आदि रूप में परिणत करने की शक्ति होती है और अपर्याप्त जीवों में इस

प्रकार की शक्ति नहीं होती है। इन दोनों प्रकार के जीवों के भी निम्नप्रकार से दो-दो भेद हैं—

अपर्याप्त जीव—१. लब्धि-अपर्याप्त और २. करण-अपर्याप्त।[1]

पर्याप्त जीव—२. लब्धिपर्याप्त और २. करणपर्याप्त।

लब्धि-अपर्याप्त जीव वे हैं जो अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं, किन्तु स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं करते। अर्थात् जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे लब्धि-अपर्याप्त कह-

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में करण-अपर्याप्त के बदले निर्वृत्ति-अपर्याप्त शब्द का प्रयोग किया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव॥

—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा १२०

अर्थात् पर्याप्तनामकर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक वह पर्याप्त नहीं कहलाता है, किन्तु निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहलाता है। लेकिन श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में करण शब्द से शरीर, इन्द्रिय आदि-आदि पर्याप्तियाँ, इतना अर्थ किया गया है—

करणानि शरीराक्षादीनि।

—लोकप्रकाश ३/१०

अतएव उक्त मंतव्य के अनुसार जिसने शरीरपर्याप्ति पूर्ण की, किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं की, वह भी करण-अपर्याप्त है। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर की पर्याप्ति के लिए समझना चाहिये। अर्थात् शरीररूप करण के पूर्ण करने से करण-पर्याप्त, किन्तु इन्द्रियरूप करण के पूर्ण न करने से करण-अपर्याप्त। लेकिन जब जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, तब उसे करण-अपर्याप्त नहीं, करण-पर्याप्त कहेंगे।

लाते हैं[1] और जिन्होंने शरीर और इन्द्रियादि स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण नहीं कीं, किन्तु अवश्य पूर्ण करेंगे, उन्हें करण-अपर्याप्त कहते हैं।

लब्धि-पर्याप्त जीव वे कहलाते हैं, जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और अभी स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं की हैं, लेकिन पूर्ण अवश्य करेंगे। करण-पर्याप्त उन्हें कहते हैं, जिन्होंने स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं।

उक्त अपर्याप्त और पर्याप्त के दो-दो भेदों में करण-अपर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त का अर्थ लगभग एक जैसा प्रतीत होता है, जिससे यह शंका हो सकती है कि इन दोनों में क्या अन्तर है ?

इस विषय में यह समझना चाहिए कि कर्म दो प्रकार के हैं—१. पर्याप्तनामकर्म और २. अपर्याप्तनामकर्म। जिस कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं, उसे पर्याप्तनामकर्म और जिस कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हों, उसे अपर्याप्तनामकर्म कहते हैं। लब्धि यानी शक्ति के द्वारा पर्याप्त, वे लब्धि-पर्याप्त, वे पर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीव हैं और शक्ति से अपर्याप्त, वे लब्धि-अपर्याप्त, वे अपर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीव हैं।

---

१ लब्धि-अपर्याप्त जीव भी करण-अपर्याप्त होते हैं। क्योंकि यह नियम है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना नहीं मरते हैं और मरण तभी हो सकता है जब आगामी भव का आयुबन्ध हो गया हो और आयुबन्ध तभी होता है जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय यह तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं—

यस्मादागामिभवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः। तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति।

—नन्दीसूत्र, मलयगिरिटीका

तात्पर्य यह है कि पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीव ही क्रम से लब्धि-पर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त कहलाते हैं तथा करण-अपर्याप्त और करण-पर्याप्त तो पर्याप्तनामकर्म का उदय होने के बाद जीव की अमुक अवस्था का ज्ञान कराने के लिए शास्त्रकार द्वारा रखे गये नाम हैं। जैसे कि लब्धि-पर्याप्त, पर्याप्तनामकर्म वाले जीव जब तक स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न करें, तब तक उनकी अवस्था को करण-अपर्याप्त अवस्था और स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद की अवस्था को करण-पर्याप्त अवस्था कहना चाहिए।

इस प्रकार लब्धि-पर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त तो कर्मरूप हैं तथा करण-अपर्याप्त और करण-पर्याप्त कर्मरूप नहीं हैं, यह स्पष्ट भेद है।

इस प्रकार स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने और न करने की योग्यता की अपेक्षा से समस्त संसारी जीवों—एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों—को पर्याप्त और अपर्याप्त माना जाता है।

सामान्य की अपेक्षा सभी जीव एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त पांच प्रकार के होने पर भी एकेन्द्रियों के बादर और सूक्ष्म तथा पंचेन्द्रियों के संज्ञी और असंज्ञी, यह दो विशेष भेद हो जाते हैं। जिससे सात भेद हुए और सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के सातों भेद अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने या न करने की शक्ति वाले होते हैं। अतः इन सभी जीवों का बोध कराने के लिए जीवस्थान के चौदह भेद किये जाते हैं। समस्त जीवों का इन चौदह प्रकारों में किया गया वर्गीकरण इतना वैज्ञानिक और युक्तिसंगत है कि उनमें सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

जीवस्थानों के चौदह प्रकारों के होने की उक्त प्रक्रिया को समझ लेने के बाद उनके लक्षणों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है, तथापि सरलता से बोध करने के लिए संक्षेप में उनके लक्षणों का निर्देश करते हैं—

१-४ **सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय**—स्पर्शन, रसन आदि पांचों इन्द्रियों

के क्रम में जिनको पहली स्पर्शनरूप एक इन्द्रिय होती है, ऐसे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति काय के जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर के कारण ये प्रत्येक सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं तथा ये दो-दो भेद भी पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले होने से पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके वर्ग क्रमशः १. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, २. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ३. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और ४. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के बादर और सूक्ष्म यह दो भेद मानने का कारण यह है कि चाहे कितने भी शरीरों के एकत्रित हो जाने पर भी जो चर्म-चक्षुओं से न दिखें वे सूक्ष्म और जिनके अनेक शरीरों का समूह भी दिख सकता हो, वे बादर कहलाते हैं।

५-६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन और रसनरूप दो इन्द्रियाँ जिनको हों, ऐसे शंख, सीप, चन्दनक आदि जीव द्वीन्द्रिय कहलाते ह। ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। इन दोनों के वर्गों को क्रमशः द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान कहते हैं।

७-८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पशन, रसन और घ्राण (नाक), ये तीन इन्द्रियाँ जिनको हों, ऐसे जूं, खटमल, इन्द्रगोप, चींटी, दीमक आदि जीव त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमशः त्रीन्द्रिय पर्याप्त और त्रीन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान कहलाते हैं।

९-१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ जिनको हों, ऐसे भ्रमर, मक्खी, मच्छर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमशः चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

११-१२ असज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त जिनको पांचों इन्द्रियाँ हों, लेकिन संज्ञा—भूत, भावी और वर्तमान पदार्थों के स्वभाव के विचार करने की योग्यता से विहीन हों

वे जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके भेद क्रमशः असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

१३-१४ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—जिनको पांचों इन्द्रिय और संज्ञा हो, वे संज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमशः संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

इस प्रकार से जीवस्थानों के भेद बतलाने के पश्चात अब उनमें योगों का निर्देश करते हैं।

जीवस्थानों में योग

विगलासन्निपज्जत्तएसु—अर्थात् पर्याप्त विकलेन्द्रियों—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों में तथा पर्याप्त असंज्ञी पंचेद्रियों में काययोग और वचनयोग, इस तरह दो योग होते हैं—'लब्भंति कायवइयोगा'। सव्वेवि सन्निपज्जत्तएसु—अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में मनोयोग आदि तीनों योग के सभी उत्तर भेद—पन्द्रह योग होते हैं तथा इनसे शेष रहे पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन नौ जीवस्थानों में सिर्फ काययोग होता है—'सेसेसु काओगो।'

जीवस्थानों में योगों विषयक इस सामान्य कथन को अब विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में काययोग और वचनयोग यह दो योग होते हैं। काययोग तो इनमें औदारिकशरीररूप और 'विगलेसु असच्चमोसेव'[1]—विकलेन्द्रियों में असत्यामृषारूप ही वचनयोग होता है—इस कथन के अनुसार असत्यामृषाभाषा—व्यवहारभाषारूप वचनयोग

---

१ गाथा ९

होगा। इसका कारण यह है कि ये सभी जीव तिर्यंच हैं और तिर्यंच जीवों के शरीर औदारिककाययोगनिष्पन्न होते हैं, इसलिए इनके औदारिककाययोग तो अवश्य होगा ही और असत्यामृषावचनयोग इसलिए माना है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय के अनन्तर रसना आदि श्रोत्र पर्यन्त एक-एक इन्द्रिय की वृद्धि होती जाती है. इस इन्द्रिय वृद्धि के क्रम में रसनेन्द्रिय (जीभ) प्रथम है और जीभ शब्दोच्चारण की साधन है। अतः जिन जीवों के रसनेन्द्रिय होगी वे, किसी न किसी शब्द-ध्वनि का उच्चारण अवश्य करेंगे ही। किन्तु इन द्वीन्द्रिय आदि जीवों का भाषाप्रयोग न तो सत्यरूप होता है और न मृषारूप, किन्तु असत्यामृषा—व्यवहारभाषारूप होता है। ये सभी असंज्ञी होते हैं, जिससे इनमें मनोयोग मूलतः सम्भव नहीं है। इसलिए पर्याप्त विकलत्रिक और असंज्ञी पंचेंद्रिय, इन चार जीवस्थानों में औदारिककाययोग और असत्यामृषा—व्यवहारभाषारूप वचनयोग, यह दो योग माने जाते हैं।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सभी योग पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि सभी छहों पर्याप्तियों से युक्त होने से इनकी मन, वचन, काय योग सम्बन्धी योग्यता विशिष्ट प्रकार की होती है। इसलिए उनमें चारों मनोयोग, चारों वचनयोग और सातों काययोग हैं। इस प्रकार उनमें सभी पन्द्रह योग माने जाते हैं।[1]

योगों के पन्द्रह भेदों में यद्यपि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्थाभावी हैं। लेकिन इनको भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों में मानने का कारण यह है कि—

---

१ अपेक्षाविशेष से सामान्य संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में योगों का विचार किया जाये तो अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, इन तीनों योगों के सिवाय बारह योग भी माने जा सकेंगे।

कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था में तब होते हैं जब केवली भगवान् केवलिसमुद्घात करते हैं।[1] केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कार्मणकाययोग तथा दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्रकाययोग[2] होता है।

आहारककाययोग के अधिकारी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य हैं और मनुष्यों में भी चतुर्दशपूर्वधर संयत। जब वे चतुर्दशपूर्वधर संयत मुनि आहारकशरीर-लब्धि का प्रयोग करते हैं, तब आहारकशरीर के बनाने व त्यागने के समय तो आहारकमिश्रकाययोग और शेष समय में—उस शरीर को धारण करने के समय में आहारककाययोग होता है।

वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त अवस्था में तब होता है जब कोई वैक्रियलब्धिधारी मुनि आदि वैक्रिय शरीर को बनाते हैं और देव, नारकों के वैक्रिय काययोग होता है।

इस प्रकार पर्याप्त विकलत्रिक, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन पांच जीवस्थानों में प्राप्त योगों का पृथक्-पृथक् रूप से कथन करने के बाद ग्रन्थकार आचार्य ने शेष नौ जीवस्थानों में योग का निर्देश करने के लिए गाथा में जो—'सेसेसु काओगे' अर्थात् काययोग होता है[3] पद दिया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ केवलिसमुद्घात की स्थिति आठ समय प्रमाण है। इनमें केवली भगवान् आत्म-प्रदेशों को सर्वलोकव्यापी करके पुनः शरीरप्रमाण कर लेते हैं।

२ मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च।
—प्रशमरति प्रकरण (उमास्वाति) २७६—२७७

३ दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों ने भी जीवस्थानों में इसी प्रकार से योगों का निर्देश किया है—

लद्धीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते ।
पज्जत्ते ओरालो वेउव्विय मीसगो वा वि ॥७॥

शब्दार्थ—**लद्धीए**—लब्धि से, **करणेहि**—करण से, **ओरालियमीसगो**—औदारिकमिश्र, **अपज्जत्ते**—अपर्याप्त में, **पज्जत्ते**—पर्याप्त में, **ओरालो**—औदारिक, **वेउव्विय**—वैक्रिय, **मीसगो**—वैक्रियमिश्र, **वा**—अथवा, **वि**—भी ।

गाथार्थ—लब्धि और करण से अपर्याप्त जीवों में औदारिकमिश्र-काययोग होता है तथा पर्याप्त अवस्था में औदारिक, वैक्रिय अथवा वैक्रियमिश्रकाययोग होता है ।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा में 'सेसेसु काओगो' पद से जिन शेष रहे जीवस्थानों में काययोग का निर्देश किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१-४. पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, ५. अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय, ६. त्रीन्द्रिय, ७. चतुरिन्द्रिय, ८. असंज्ञी पंचेन्द्रिय और ९. संज्ञी पंचेन्द्रिय । इनमें पर्याप्त सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, इन दो को छोड़कर शेष सात अपर्याप्त अवस्थाभावी जीवस्थान हैं और यदि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चार गतियों की अपेक्षा इनका विभाजन किया जाये तो अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर शेष आठ जीवस्थान तिर्यंचगति में होते हैं

'णवसु चदुक्के इक्के जोगा इक्को य दोण्णि पण्णरसा ।'

—पंचसंग्रह शतक प्राकृतवृत्ति गा. ९

लेकिन भाष्यगाथाकार ने चौदह योगों का उल्लेख किया है—

सण्णी संपुण्णेसुं चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४३॥

जिसका स्पष्टीकरण वृत्ति में इस प्रकार है—

मनुष्य-तिर्यगपेक्षया संज्ञिसंपूर्णेसु पर्याप्तेषु वैक्रियकमिश्रं विना चतुर्दश योगाः ज्ञातव्याः ।

और अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान चतुर्गति के जीवों में पाया जाता है।

पूर्व में अपर्याप्त और पर्याप्त के विचार-प्रसंग में अपर्याप्त के दो भेद बतलाये हैं—(१) लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त। मनुष्य और तिर्यंच तो लब्धि और करण दोनों प्रकार के अपर्याप्त सम्भव हैं किन्तु देव और नारक करण-अपर्याप्त होते हैं, लब्धि-अपर्याप्त नहीं होते हैं।

इस प्रकार से संक्षेप में अवशिष्ट नौ जीवस्थानों के बारे में निर्देश करने के बाद अब उनमें प्राप्त काययोग के भेदों को बतलाते हैं—

'लद्धीए करणेहि ··· अपज्जत्ते' अर्थात् लब्धि और करण से अपर्याप्त ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, ये छहों जीवस्थान औदारिक शरीर वाले हैं। अतः इनकी अपर्याप्त दशा में 'ओरालियमीसगो'—औदारिकमिश्रकाययोग तथा अपान्तरालगति (विग्रहगति) और उत्पत्ति के प्रथम समय में कार्मण काययोग होता है। इन छह जीवस्थानों की अपर्याप्त दशा में कार्मण और औदारिकमिश्रकाययोग मानने का कारण यह है कि सभी प्रकार के जीवों को अपान्तरालगति (विग्रहगति) में तथा जन्म ग्रहण करने के प्रथम समय में कार्मणयोग ही होता है, क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योगप्रवृत्ति केवल कार्मणशरीर से होती है और उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण बन जाने तक मिश्रकाययोग सम्भव है। क्योंकि उस अवस्था में कार्मण और औदारिक आदि स्थूल शरीरों के संयोग से योगप्रवृत्ति होती है। इसीलिये अपर्याप्त अवस्था में कार्मणकाययोग के बाद औदारिकमिश्रकाययोग माना गया है।

अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक जीव गर्भित हैं, इसलिये सामान्य से इसमें कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग होंगे। लेकिन मनुष्य और तिर्यंचों की अपेक्षा

कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग और देव, नारकों की अपेक्षा कार्मण और वैक्रियमिश्र काययोग होंगे। मनुष्य और तिर्यंचों में औदारिकमिश्र काययोग और देव, नारकों में वैक्रियमिश्र काययोग मानने का कारण यह है कि इनमें जन्मतः क्रमशः औदारिक और वैक्रिय शरीर होते हैं। अतः उनकी अपर्याप्त अवस्था में औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र शरीर माने जायेंगे और कार्मण काययोग मानने का कारण पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार दोनों में कार्मण काययोग समान होने से अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में तीन योग माने जाते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के औदारिककाययोग होता है। क्योंकि जैसे इनमें मन और वचन की लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसीलिये उनमें वैक्रियकाययोग आदि सम्भव नहीं है तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तिर्यंचगति वाले हैं और तिर्यंचगति में औदारिक शरीर होता है। इसी कारण इनमें औदारिककाययोग माना गया है।

इस प्रकार सात अपर्याप्त, पांच पर्याप्त संबंधी जीवस्थानों में समग्र रूप से तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में आंशिक रूप से योगों का विचार करने के पश्चात् अवशिष्ट संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में योगों का प्रतिपादन करते हैं।

'पज्जत्ते ओरालो ...' इत्यादि अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में तथा बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व गाथा में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के भेद मनुष्यों में केवलिसमुद्घात के समय औदारिकमिश्र, कार्मण तथा वैक्रियलब्धिसंपन्न मनुष्यों तथा तिर्यंचों को वैक्रियलब्धिप्रयोग के समय वैक्रियमिश्रकाययोग का निर्देश किया था, लेकिन शेष समय में प्राप्त योग को नहीं

बताया था। जिसको यहाँ स्पष्ट किया है कि उनको औदारिककाय-योग जानना चाहिये और पर्याप्त देव और नारकों को वैक्रियकाय-योग होता है तथा पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवस्थान में औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्रकाययोग यह तीन योग माने जाने का कारण यह है कि पृथ्वी, जल आदि पाँचों स्थावर बादर एकेन्द्रिय तिर्यंच हैं और तिर्यंचों का औदारिक शरीर होता है, अतः पर्याप्त अवस्था में औदारिककाययोग होता ही है। लेकिन बादर वायुकायिक जीवों के वैक्रियलब्धि होती है, इसलिए जब वे वैक्रिय शरीर बनाते हैं तब वैक्रियमिश्रकाययोग और वैक्रिय शरीर पूर्ण बन जाने पर वैक्रिय-काययोग होता है।

'पज्जत्ते ओरालो वेउव्विय मीसगो वा वि' पद से यही आशय स्पष्ट किया गया है तथा गाथा के अन्त में आये (वि) अपि शब्द से यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिए कि आहारकलब्धिसंपन्न चौदह पूर्वधर को आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग भी होता है।

मतान्तर से जीवस्थानों में योग

जीवस्थानों में योग-विचार के प्रसंग में कितने ही आचार्यों का मत है कि शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पहले मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिकमिश्र और देव, नारकों के वैक्रियमिश्र तथा शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् शेष पर्याप्तियों से अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक तथा देव, नारकों के वैक्रियकाययोग होता है। एतद् विषयक अन्यकर्तृक गाथा इस प्रकार है—

कम्मुरलदुगमपज्जे वेउव्विदुगं च सन्निलद्धिल्ले।
पज्जेसु उरलोच्चिय वाए वेउव्वियदुगं च॥

शब्दार्थ—**कम्मुरलदुगं**—कार्मण औदारिकद्विक, **अपज्जे**—अपर्याप्त में, **वेउव्विदुगं**—वैक्रियद्विक, **सन्निलद्धिल्ले**—लब्धियुक्त संज्ञी में, **पज्जेसु**—पर्याप्त में, **उरलोच्चिय**—औदारिककाययोग ही, **वाए**—वायुकाय में, **वेउव्वियदुगं**—वैक्रियद्विक, **च**—और।

गाथार्थ—अपर्याप्त अवस्था में कार्मण और औदारिकद्विक, ये तीन योग होते हैं और लब्धियुक्त संज्ञी में वैक्रियद्विक तथा पर्याप्त में औदारिककाययोग और वायुकाय में वैक्रियद्विक योग होते हैं।

विशेषार्थ—मतान्तर के अनुसार जीवस्थानों में योगों का निर्देश किया गया है कि—

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जीवस्थानों में कार्मण और औदारिकद्विक—औदारिक और औदारिकमिश्र, ये तीन काययोग होते हैं—'कम्मुरलदुगमपज्जे'। अर्थात् अन्य आचार्यों के मत से शरीरपर्याप्ति से पूर्व के अपर्याप्तकों में तो कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो काययोग होते हैं और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद के अपर्याप्तकों में औदारिककाययोग होता है। इसी प्रकार देव और नारकों के अपर्याप्त अवस्था में कार्मण, वैक्रियमिश्र और वैक्रिय काययोग तथा लब्धियुक्त संज्ञी जीवों में भी वैक्रियद्विक होते हैं और पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियादि तिर्यंचों एवं मनुष्यों में औदारिककाययोग तथा उपलक्षण से देव, नारकों में वैक्रियकाययोग समझना चाहिये—पज्जेसु उरलोच्चिय'।[1]

'वाए वेउव्विय दुगं च'—अर्थात् पर्याप्त वायुकायिक जीवों में वैक्रिय, वैक्रियमिश्र[2] तथा च शब्द से अनुक्त औदारिक का समुच्चय

---

१ यहाँ अपर्याप्त शब्द से अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले लब्धि-अपर्याप्त का ग्रहण करना चाहिये और अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच होते हैं। देव, नारकों की जघन्य आयु भी दस हजार वर्ष की है और लब्धि-अपर्याप्त जीव भी इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद मरते हैं, उससे पूर्व नहीं। क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण हुए बिना परभव की आयु का बंध नहीं होता है, लब्धि-अपर्याप्त जीवों के औदारिक शरीर होता है, वैक्रिय शरीर नहीं, जिससे देव, नारकों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

२ (क) आद्यं तिर्यग्मनुष्याणां देवनारकयोः परम्।
केषांचिल्लब्धिमद्वायु संज्ञितिर्यग्नृणामपि॥
—लोकप्रकाश सर्ग ३

→

करके औदारिक, इस तरह तीन काययोग जानना चाहिये। औदारिक को ग्रहण करने का कारण यह है कि सभी को नहीं किन्तु कुछ एक वायुकायिक जीवों को वैक्रियद्विक काययोग होते हैं।[1]

उक्त कथन का सारांश और विचारणीय बिन्दु इस प्रकार हैं—

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेते हैं तब औदारिक शरीर वालों के औदारिककाययोग होता है, औदारिकमिश्रकाययोग नहीं और वैक्रिय शरीर वालों के वैक्रियकाययोग किन्तु वैक्रियमिश्र काययोग नहीं। इस मतान्तर के मानने वाले शीलांकाचार्य आदि प्रमुख आचार्य हैं। उनका मंतव्य है कि शरीरपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद भी शेष पर्याप्तियों के पूर्ण न होने से अपर्याप्त माने जाने वाले जीवों में शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो जाने से शरीर पूर्ण हो गया और उस स्थिति में औदारिक शरीर वालों के औदारिककाययोग और वैक्रिय शरीर

पहला (औदारिक) शरीर तिर्यंच, मनुष्यों के और दूसरा (वैक्रिय) शरीर देव, नारकों के होता है तथा किन्हीं लब्धि वाले वायुकायिकों व संज्ञी तिर्यंच, मनुष्यों को भी होता है।

(ख) तत्वार्थभाष्यवृत्ति में भी वायुकायिक जीवों के लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर होने का संकेत किया है—'वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव' इत्यादि।

—तत्त्वार्थ. २/४८

(ग) दिगम्बर साहित्य में भी वायुकायिक, तेजस्कायिक जीवों को वैक्रिय शरीर का स्वामी कहा है—

बादर तेऊवाऊ पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।

—गोम्मटसार जीवकांड गाथा २३२

बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और भोगभूमिज तिर्यंच, मनुष्य भी विक्रिया करते हैं।

१ (क) तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि। बायरपज्जत्ताणंपि संखेज्जइ भागस्सत्ति। —प्रज्ञापनाचूर्णि

→

वालों को वैक्रियकाययोग होगा। शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, तभी से मिश्रयोग नहीं रहता है।[1]

इस मत के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रियादि छह अपर्याप्त जीवस्थानों में कार्मण, औदारिकमिश्र और औदारिक, यह तीन काययोग और अपर्याप्त संज्ञी पंचेंद्रिय में कार्मण आदि उक्त तीन के साथ वैक्रिय-मिश्र तथा वैक्रिय, इन दो योगों को मिलाने से कुल पांच योग होते हैं।

इस मतान्तर को कार्मग्रंथिक और सैद्धान्तिक मतभिन्नता भी कह सकते हैं। क्योंकि सिद्धान्त में शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने पर शरीर की निष्पत्ति मानकर यथायोग्य जीवों को औदारिककाययोग और वैक्रियकाययोग माना है और कार्मग्रंथिकों ने सर्व पर्याप्तियों के पूर्ण होने से बने हुए को औदारिक, वैक्रिय काययोग। क्योंकि उनके मतानुसार जब तक इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति पूर्ण न हों तब तक शरीर अपूर्ण रहता है और कार्मण काययोग का व्यापार चालू रहता है। इसीलिये औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र काययोग मानना युक्ति संगत है।

उक्त मतभिन्नता के अतिरिक्त अन्य जीवस्थानों में संभव योग सम्बन्धी मतभेद नहीं है।[2]

तीन राशि-सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त इन तीन राशि के जीवों में वैक्रियलब्धि होती ही नहीं है और बादर पर्याप्त वायुकाय में से उसके संख्यातवें भाग जीवों में वैक्रियलब्धि संभव है।

(ख) ·····तेजोवायुकायिक पंचेन्द्रिय--तिर्यग्मनुष्यानां च केषांचित्।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक २/४९

१ औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरुर्ध्वम् तदितरस्तु मिश्रः। —आचारांग १ / २ / १ की टीका

२ दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों द्वारा विवेचित जीवस्थानों में योगों का विचार परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार जीवस्थानों में योगों का विचार करने के पश्चात् अब उनमें उपयोगों का निरूपण करते हैं।

जीवस्थानों में उपयोग

मइसुयअन्नाण अचक्खु दंसणेक्कारसेसु ठाणेसु।
पज्जत्तचउपणिदिसु सचक्खु सन्नीसु बारसवि[1] ॥८॥

शब्दार्थ—**मइसुयअन्नाण**—मति-श्रुत-अज्ञान, **अचक्खुदंसण**—अचक्षु-दर्शन, **एक्कारसेसु**—ग्यारह में, **ठाणेसु** जीवस्थानों में **पज्जत्त** पर्याप्त, **चउपणिदिसु**—चतुरिन्द्रियों और पंचेन्द्रियों में, **सचक्खु**—चक्षुदर्शन सहित, **सन्नीसु**—संज्ञी में, **बारसवि**—सभी बारह।

गाथार्थ—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग ग्यारह जीवस्थानों में होते हैं। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियों में चक्षुदर्शन सहित चार और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में सभी बारह उपयोग होते हैं।

विशेषार्थ—पूर्व में बताये गये उपयोग के बारह भेदों को अब जीवस्थानों में घटित करते हैं—

'एक्कारसेसु ठाणेसु'—अर्थात् १. पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २. अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ४. अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ५. पर्याप्त द्वीन्द्रिय, ६. अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, ७. पर्याप्त त्रीन्द्रिय, ८. अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, ९. अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, १०. अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और ११. अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय—इन ग्यारह जीवस्थानों में 'मइसुय - अन्नाण अचक्खुदंसण'—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन, यह तीन उपयोग होते हैं। यथाक्रम से जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ तुलना कीजिये—

एयारसेसु ति त्ति य दोसु चउक्कं च बारमेक्कम्मि।
जीवसमासस्सेदे उवओगविही मुणेयव्वा ॥

—दिग. पंचसंग्रह ४/२१

पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त ग्यारह जीवस्थानों में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान अचक्षुदर्शन ये उपयोग कार्मग्रंथिकों के मतानुसार हैं, सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं तथा यहाँ अपर्याप्त का अर्थ लब्धि-अपर्याप्त समझना चाहिए।[1] अन्यथा करण-अपर्याप्त चतुरिन्द्रियादि में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद चक्षुदर्शन भी होता है। करण-अपर्याप्त संज्ञी को तो मति, श्रुत, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन और विभंगज्ञान भी होता है।

सिद्धान्त के मतानुसार तो सभी प्रकार के एकेन्द्रियों में, चाहे वे बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त हों—पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इन चार अपर्याप्त जीवस्थानों में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। साथ ही सिद्धान्त में दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को अज्ञान रूप न मानकर ज्ञान रूप माना है। अतएव सिद्धान्त के मतानुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार अपर्याप्त जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पांच उपयोग होते हैं। शेष में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग समझना चाहिए।

---

१ (क) एते च लब्ध्यपर्याप्तकाः, यतः करणापर्याप्तकेष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां तेषां चक्षुर्दर्शनं भवति।

—पंचसंग्रह १।८ स्वोपज्ञ वृत्ति

(ख) दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों का भी यही अभिमत है—

मइसुअअण्णाणाइं अचक्खु एयारसेसु तिण्णेव।

सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्ताः एतेऽष्टौ, चतुः-पञ्चेन्द्रिय संज्ञ्यऽसंज्ञिनः अपर्याप्तस्त्रयः एवमेकादश जीवसमासेषु मतिः श्रुताज्ञाने द्वे, अचक्षुर्दर्शनमेकं, इति त्रयः उपयोगाः भवन्ति।

—दिगम्बर पंचसंग्रह ४/२२

एकेन्द्रिय में माने गए तीन उपयोगों में श्रुत-अज्ञान उपयोग को ग्रहण करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि—

प्रश्न—स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति उपयोग माना जा सकता है, लेकिन भाषा और श्रवणलब्धि न होने के कारण उनमें श्रुत उपयोग सम्भव नहीं है। क्योंकि शास्त्रानुसार श्रुतज्ञान उसे कहते हैं जो बोलने की इच्छा वाले अथवा वचन सुनने वाले को होता है।

उत्तर—एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्येन्द्रियों के न होने पर भी वृक्षादि जीवों में पाँचों भाव इन्द्रियों तथा बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्र-सम्मत है। क्योंकि उनमें आहार संज्ञा (अभिलाष) विद्यमान है और यह आहार-अभिलाष क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष है। अभिलाष शब्द और अर्थ के विकल्प पूर्वक होता है और विकल्प सहित उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय का नाम ही श्रुतज्ञान है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एकेन्द्रियों में श्रुत उपयोग न माना जाये तो उनमें आहार का अभिलाष नहीं घट सकता है। इसलिये बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत उपयोग अवश्य मानना चाहिये और शास्त्र में भाषा और श्रवण लब्धि वाले को ही भावश्रुत उपयोग बताने का तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।[1]

लब्धि-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा तो मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते हैं, लेकिन करण-

---

१ एकेन्द्रियों में भावश्रुत प्राप्ति सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए विशेषावश्यकभाष्य गाथा १००-१०४ एवं टीका।

अपर्याप्त की अपेक्षा उसमें उपयोगों का विचार किया जाये तो मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन और केवलदर्शन इन चार उपयोगों के सिवाय शेष आठ उपयोग माने जायेंगे। मनपर्यायज्ञान आदि चार उपयोग न मानने का कारण यह है कि मनपर्यायज्ञान संयमी जीवों को होता है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था में संयम संभव नहीं है तथा चक्षुदर्शन चक्षुरिन्द्रिय वालों को होता है और चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है, लेकिन अपर्याप्त अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार नहीं होता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग कर्मक्षयजन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त दशा में कर्मक्षय होना संभव नहीं है। इसी कारण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था में मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन और केवलदर्शन यह चार उपयोग नहीं होते हैं। किन्तु आठ उपयोग इसलिए माने जायेंगे कि तीर्थंकर तथा सम्यग्दृष्टि देव, नारक आदि को उत्पत्ति के क्षण से ही मति, श्रुत, अवधिज्ञान और अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये पाँच उपयोग होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि देव, नारक को जन्म समय से ही मति-श्रुत-अवधि-अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। दोनों प्रकार के जीवों में (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि में) दो दर्शन समान हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति न करने से आठ उपयोग माने जाते हैं।[1]

---

१ दिगम्बर कार्मग्रंथिकों ने अपर्याप्त दशा में सात उपयोग माने हैं। विभंगज्ञान को ग्रहण नहीं किया है—

णवरि विभंगं णाणं पंचिंदिय सण्णिपुण्णेव।

—गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ३००

लेकिन यह सात उपयोग मानने का मत भी सर्वसम्मत नहीं, किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने माना है—

पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यपर्याप्तकजीवेषु मतिश्रुतावधिद्विकं, मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिद्विकं अवधिज्ञानदर्शनद्वयं चकारात् अचक्षुर्दर्शनं इति पंच उपयोगाः।

→

'पज्जत्त चउपणिदिसु सचक्खु' अर्थात् पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त तीन मिलाकर चार उपयोग होते हैं। यानी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह चार उपयोग होते हैं। इन चार उपयोगों के होने का कारण यह है कि इनके पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है तथा आवरण की सघनता से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के सिवाय अन्य दर्शनोपयोग तथा मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानोपयोग संभव नहीं हैं। इसी कारण पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थानों में चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन, कुल चार उपयोग माने जाते हैं।

अब शेष रहा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान। इसमें सभी बारह उपयोग होते हैं—सन्नीसु बारसवि। यह कथन सामान्य की अपेक्षा समझना चाहिये, लेकिन विशेषापेक्षा विचार किया जाये तो देव, नारक और तिर्यंच, इन तीन गतियों में तो केवलज्ञान, केवलदर्शन और मनपर्यायज्ञान के सिवाय शेष नौ उपयोग होते हैं, मात्र मनुष्यगति में ही बारह उपयोग संभव हैं।[1] केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग की स्थिति समय मात्र की और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानी गई है।[2]

कुमति-कुश्रुतज्ञानद्वयमिति सप्त केचिद् वदन्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियसंज्ञिजीवेषु भवन्तीति विशेषव्याख्येयम्। —दि. पंचसंग्रह ४/२३ की टीका

१ इनमें से छद्मस्थ मनुष्यों के केवलद्विक के सिवाय शेष दस और केवली भगवान के सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं।

२ छाद्मस्थिक उपयोगों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानने के संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर मत समानतंत्रीय हैं। संबंधित उल्लेख इस प्रकार है—
(क) उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तपरिमाणः प्रकर्षाद् भवति।
—तत्त्वार्थभाष्य २/८ की टीका

→

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में सभी बारह उपयोग मानने और छद्मस्थों में उनके क्रमभावी होने अर्थात् दर्शन के पश्चात ज्ञानोपयोग होने में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।[1] लेकिन केवली के उपयोग सहभावी हैं या क्रमभावी, इसको लेकर तीन पक्ष हैं।

प्रथम पक्ष सिद्धान्त का है। इसके समर्थक श्री भद्रबाहु स्वामी, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हैं। सिद्धांत में ज्ञान और दर्शन का अलग-अलग लक्षण है तथा उनके क्रमभाविता का वर्णन किया है।[2] आवश्यकनिर्युक्ति में केवलज्ञान, केवलदर्शन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण, उनके द्वारा सर्वविषयक ज्ञान और दर्शन का होना तथा युगपत् दो उपयोगों के होने का निषेध बताया है। क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन के भिन्न-भिन्न आवरण हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्तता लब्धि की अपेक्षा है, उपयोग की अपेक्षा उनकी स्थिति एक समय की है। उपयोग अपने स्वभाव के कारण क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और अलग अलग माना जाता है।

द्वितीय पक्ष केवलज्ञान,केवलदर्शन को युगपत् सहभावी मानने वालों का है। इसके प्रस्तावक श्री मल्लवादी आदि तार्किक हैं। उनका मंतव्य है—आवरण-क्षयरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय समकालीन होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन युगपत् होते हैं। छाद्मस्थिक उपयोगों में कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिबंध्य-प्रतिबंधकभाव

(ख) उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम्।

—तत्त्वार्थभाष्य २/९ की टीका

(ग) गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६७४-७५

१ दंसणपुव्वं णाणं छद्मत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा। —द्रव्यसंग्रह ४४

२ नाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ९७९

घट सकता है, किन्तु क्षायिक उपयोग में यह सम्भव नहीं है। बोध-स्वरूप आत्मा के निरावरण होने पर दोनों क्षायिक उपयोग निरंतर होने चाहिये। केवलज्ञान और केवलदर्शन की सादि-अनन्तता युगपत् पक्ष में ही घट सकती है। क्योंकि इस पक्ष में दोनों उपयोग युगपत् और निरंतर होते रहते हैं। जिससे द्रव्यार्थिक नय से उपयोगद्वय के प्रवाह को अनंत कहा जा सकता है। सिद्धान्त में जहाँ कहीं भी केवल-दर्शन और केवलज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, वह सब दोनों के व्यक्तिभेद का साधक है, क्रमभावित्व का नहीं। अतः दोनों उपयोग सहभावी मानने चाहिये।[1]

तृतीय पक्ष उभय उपयोगों में भेद न मानकर ऐक्य मानता है। इसका प्रतिनिधित्व आचार्य सिद्धसेन दिवाकर करते हैं। इसके सम्बन्ध में उनकी युक्तियाँ हैं कि यथायोग्य सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय में अनेक घट-पटादि विषय भासित होते हैं, उसी प्रकार आव-रणक्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल उपयोग पदार्थों के सामान्य-विशेष उभय स्वरूप को जान सकता है। जैसे केवलज्ञान के समय मतिज्ञानावरण आदि का अभाव होने पर भी मतिज्ञान आदि ज्ञान केवलज्ञान से अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर भी केवलदर्शन को केवलज्ञान से अलग नहीं मानना चाहिये। विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शन में भेद मान लें लेकिन अनन्त विषयत्व और क्षायिक भाव समान होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन में भेद नहीं माना जा सकता है तथा केवलदर्शन को यदि केवलज्ञान से अलग माना जाये

---

१ दिगम्बर साहित्य में इसी युगपत् उपयोगद्वय पक्ष को स्वीकार किया है—

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥

—नियमसार १६०

जुगवं जम्हा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि। —द्रव्यसंग्रह ४४

तो वह सामान्य मात्र को विषय करने वाला होने से अल्पविषय सिद्ध होगा तब उसकी अनन्त विषयता घट नहीं सकेगी। केवलदर्शन और केवलज्ञान सम्बन्धी आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि भेद की अपेक्षा से उसका भेद समझना चाहिए, जिससे एक उपयोग व्यक्ति में ज्ञानत्व-दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग कहलाते हैं। परन्तु दोनों अलग-अलग नहीं हैं। दोनों शब्दपर्याय एकार्थवाची हैं।

केवली में उपयोग विषयक उक्त तीनों मंतव्यों में से कार्मग्रंथिकों ने सिद्धान्तमत को स्वीकार करके क्रमभावी माना है—

'संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु द्वादशोपयोगा भवन्ति, अपिशब्दाद्विद्यमानतया नतूपयोगेन, उपयोगस्त्वेकस्यैक एव भवति, यत उक्तमागमे—

'सव्वस्स केवलिस्सवि जुगवं दो नत्थि उवओगा इति वचनात्।'[1]

इस प्रकार से जीवस्थानों में उपयोगों का कथन समझना चाहिये।[2] सरलता से समझने के लिए जीवस्थानों में प्राप्त योगों और उपयोगों के प्रारूप इस प्रकार हैं—

क्र० सं०	जीवस्थान नाम	योग संख्या व नाम
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अप०	२ कार्मण, औदारिकमिश्र काययोग
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ औदारिक काययोग
३	बादर एकेन्द्रिय अप०	२ कार्मण, औदारिकमिश्र काययोग
४	,, ,, पर्याप्त	३ औदारिक, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र

---

१ पंचसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. १०

२ दिगम्बर कार्मग्रंथिकों द्वारा किये गये जीवस्थानों में उपयोग के निर्देश को परिशिष्ट में देखिये।

क्र० सं०	जीवस्थान नाम	योग संख्या व नाम
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
६	,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
८	,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१०	,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
११	असं० पंचे० अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१२	,, ,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
१३	संज्ञी पंचे० अपर्याप्त	३ कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र
१४	,, ,, पर्याप्त	१५ सत्यमनोयोग आदि कार्मण काययोग पर्यन्त सभी[1]

---

१ मतान्तर से जीवस्थानों में काययोग के भेदों को इस प्रकार जानना चाहिये—

इन चौदह जीवस्थानों में से अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सात में शरीर-पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले यथायोग्य औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र काययोग और शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेने के बाद औदारिक, वैक्रिय काययोग होता है। अतः इस मत के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानों में कार्मण, औदारिकमिश्र औदारिक यह तीन काययोग और अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक, वैक्रियमिश्र, वैक्रिय यह पाँच काययोग माने जायेंगे।

क्र० सं०	जीवस्थान नाम	उपयोग संख्या, नाम[1]
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अप०	३ मतिअ०, श्रुतअ० अचक्षुदर्शन
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
३	बादर एकेन्द्रिय अप०	३ ,, ,, ,,
४	,, ,, पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
६	,, पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
८	,, पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
१०	,, पर्याप्त	४ ,, ,, ,, चक्षुदर्शन
११	असं० पंचे० अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
१२	,, ,, पर्याप्त	४ ,, ,, ,, चक्षुदर्शन
१३	संज्ञी पंचे० अपर्याप्त[2]	३ ,, ,, ,,
१४	,, ,, पर्याप्त	१२ मतिज्ञान आदि केवलदर्शन पर्यन्त

---

१ सिद्धान्त के अनुसार जीवस्थानों में उपयोग इस प्रकार जानना चाहिए— अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पांच उपयोग होते हैं।

२ करण-अपर्याप्त की अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेष आठ उपयोग समझना चाहिये।

मार्गणास्थानों में योग

निर्देशानुसार जीवस्थानों में योग और उपयोग का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त मार्गणास्थानों में योगों और उपयोगों का कथन करना इष्ट है। इनमें योगों का क्रम प्रथम है, अतः उन्हीं का विचार प्रारम्भ करते हैं—

इगिविगलथावरेसु न मणो दो भेय केवलदुगम्मि ।
इगिथावरे न वाया विगलेसु असच्चमोसेव ॥९॥
सच्चा असच्चमोसा दो दोसुवि केवलेसु भासाओ ।
अंतरगइ केवलिएसु कम्मयन्नत्थ तं विवक्खाए ॥१०॥
मणनाणविभंगेसु मीसं उरलंपि नारयसुरेसु ।
केवलथावरविगले वेउव्विदुगं न संभवइ ॥११॥
आहारदुगं जायइ चोद्दसपुव्विस्स इइ विसेसणओ ।
मणुयगइपंचेंदियमाइएसु समईए जोएज्जा ॥१२॥

शब्दार्थ—इगिविगलथावरेसु—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और स्थावरों में, न—नहीं, मणो—मनोयोग, दो भेय—दो भेद, केवलदुगम्मि—केवलद्विक में, इगिथावरे—एकेन्द्रिय और स्थावरों में, न—नहीं, वाया—वचनयोग, विगलेसु—विकलेन्द्रियों में, असच्चमोसेव—असत्यामृषा ही।

सच्चा—सत्य, असच्चमोसा—असत्यामृषा, दो—दो, दोसुवि—दोनों ही, केवलेसु—केवल मार्गणाओं में, भासाओ—भाषायें (वचनयोग), अन्तरगइ—अन्तरगति (विग्रहगति), केवलिएसु—केवलि (केवलिसमुद्घात) में, कम्मय—कार्मणयोग, अन्नत्थ—अन्यत्र, तं—वह, विवक्खाए—विवक्षा से।

मणनाणविभंगेसु—मनपर्यायज्ञान और विभंगज्ञान मार्गणा में, मीसं—मिश्र, उरलं पि—औदारिक भी, नारयसुरेसु—नरक और देवगति में, केवल—केवलद्विक, थावर—स्थावर, विगले—विकलेन्द्रियों में, वेउव्विदुगं—वैक्रियद्विक, न—नहीं, संभवइ—होते हैं।

आहारदुगं—आहारद्विक, जायइ—होते हैं, चोद्दसपुव्विस्स—चौदह पूर्वी को, इह—इस, विसेसणओ—विशेषण से, मणुयगइ—मनुष्यगति, पंचेन्दियमाइएसु—पंचेन्द्रिय आदि मार्गणाओं में, समईए—अपनी बुद्धि से, जोएज्जा—योजना कर लेना चाहिये।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और स्थावरों में मनोयोग नहीं होता है। केवलद्विक मार्गणा में मनोयोग के दो भेद नहीं होते हैं। एकेन्द्रिय और स्थावरों में वचनयोग नहीं होता और विकलेन्द्रियों में असत्यामृषा वचनयोग ही होता है।

केवलद्विक मार्गणा में सत्य और असत्यामृषा यह दो वचनयोग होते हैं। विग्रहगति और केवलिसमुद्घात में कार्मणयोग होता है, अन्यत्र वह विवक्षा से जानना चाहिए।

मनपर्याय और विभंगज्ञान मार्गणा में औदारिक मिश्रयोग संभव नहीं है। नरक देव गति में औदारिक काययोग व केवलद्विक, स्थावर और विकलेन्द्रियों में वैक्रियद्विक योग नहीं होते हैं।

आहारकद्विक चौदह पूर्वधारी को ही होते हैं, अतः इस विशेषण से मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय आदि मार्गणाओं में जहाँ चौदह पूर्वधर संभव हों, वहाँ स्वबुद्धि से उनकी योजना कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—ग्रंथकार आचार्य ने इन चार गाथाओं में विधिनिषेध प्ररूपण शैली के द्वारा मार्गणाओं में योगों की योजना की है और मार्गणाओं के नाम एवं अवान्तर भेद आदि आगे बतलाए हैं।[1] लेकिन सुविधा की दृष्टि से यहाँ उनके भेद आदि को जानना उपयोगी होने

---

१ योगोपयोगमार्गणा अधिकार गा. २१

से पहले मार्गणाओं के भेद और उनके लक्षण बतलाते हैं।

मार्गणा के भेद

संक्षेप में मार्गणा का लक्षण पहले बतलाया जा चुका है कि समस्त जीव जिन भावों के द्वारा और जिन पर्यायों में अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

लोक में विद्यमान जीवों के अन्वेषण का मुख्य आधार है बाह्य आकार-प्रकार की अवस्था विशेष और उनमें विद्यमान त्रिकालावस्थायी भावों का समन्वय। यद्यपि शास्त्रों में जीवों के अन्वेषण के लिए मार्गणा के अतिरिक्त और दूसरे भी दो प्रकार बताये हैं—जीवस्थान और गुणस्थान। जीवस्थानों के द्वारा जीवों का जो अनुमार्गण किया जाता है, वहाँ सिर्फ बाह्य आकार-प्रकार और अवस्था की अपेक्षा मुख्य है और उनके आधार हैं शरीरधारी संसारी जीव। जिससे इस अन्वेषण में उन जीवों के आत्मिक भावों का ग्रहण-बोध नहीं हो पाता है और गुणस्थानों में सिर्फ भावों की अपेक्षा किये जाने वाले अनुमार्गण से शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य आकार-प्रकार की विभिन्नता रखने वाले जीवों का ग्रहण नहीं होता है। लेकिन मार्गणास्थानों की उभयदृष्टि है। जिससे उनके द्वारा किये जाने वाले अन्वेषण की ऐसी विशेषता है कि बाह्य शरीर आदि आकार-प्रकार और भावों से युक्त सभी प्रकार के जीवों का ग्रहण-अन्वेषण हो जाता है। इसीलिये मार्गणास्थानों की कुछ विशेषता के साथ व्याख्या की जाती है।

जीव राशि अनन्त है। उन अनन्त जीवों में से जो जीव सकर्मा होकर संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, उन्हें संसारी और कर्मरहित संसारातीत जीवों को मुक्त कहते हैं। इस प्रकार की भिन्नता होने

पर भी समस्त जीव ज्ञान-दर्शन आदि आत्मगुणों और किसी न किसी अवस्था-पर्याय में विद्यमान हैं। यद्यपि मुक्त जीव वर्तमान में पर्यायातीत हो चुके हैं, उनमें पर्याय-अवस्थाजन्य भेद नहीं है। इन्द्रिय, वेद आदि भी नहीं रहे हैं, लेकिन भूतपूर्वप्रज्ञापननय की अपेक्षा पर्याय का आरोप करके उनको भी पर्यायवान मान लिया जाता है।

प्रस्तुत में संसारी जीवों का प्रसंग है। इसीलिये उनके अनुमार्गण और उनकी समस्त पर्यायों एवं उनमें विद्यमान गुणों का समावेश करने के लिये मार्गणा के निम्नलिखित चौदह भेद किये गये हैं—

१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्य, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञी और १४. आहारक।[1]

ये मार्गणाओं के मूल-मुख्य चौदह भेद हैं। जिनमें समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। लेकिन संसारी जीवों में गति, इन्द्रिय, काय, ज्ञान आदि जन्य अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देखी जाती हैं। इसलिये उनकी अनेक प्रकार की विभिन्नताओं का समावेश करने और उनका बोध कराने के लिये प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेद कर लिये जाते हैं। उन भेदों के नाम सहित प्रत्येक मार्गणा का लक्षण इस प्रकार है –

१—**गतिमार्गणा**—कर्मप्रधान जीव (संसारी जीव) के द्वारा जो प्राप्त की जाती है, अर्थात् नरक, देव आदि रूप में आत्मा का जो परिणाम, उसे गति कहते हैं।[2] अथवा गति नामकर्म के उदय से होने

---

१ गोम्मटसार जीवकांड में भी मार्गणा के चौदह भेदों के नाम इसी प्रकार से बतलाये हैं—

गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥१४३

२ तत्र गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः। नारकत्वादिपर्याय परिणतिः। —पंचसंग्रह मलयगिरि टीका पृ. १०

वाली जीव की पर्यायविशेष को गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं—१. नरकगति, २. तिर्यंचगति, ३. मनुष्यगति, और ४. देवगति।[1]

२. **इन्द्रियमार्गणा**—इंद् धातु परम ऐश्वर्य का बोध कराने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः 'इन्दनादिन्द्रः' अर्थात् परम ऐश्वर्य जिसमें हो उसे इन्द्र कहते हैं। आत्मा में ही उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन, सामर्थ्य आदि का योग होने से आत्मा ही इन्द्र है। उसका जो लिंग-चिह्न, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों के पांच भेद हैं—१. स्पर्शन, २. रसन, ३. घ्राण, ४. चक्षु और ५. श्रोत्र।[2]

इन्द्रियों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होने से इन्द्रियों के ग्रहण से तथारूप स्व-स्व योग्य इन्द्रिय वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियवान आत्माओं में ही योगादि का विचार किया जाता है। इस अपेक्षा से इन्द्रियमार्गणा के पांच भेद हैं—१. एकेन्द्रिय, २. द्वीन्द्रिय, ३. त्रीन्द्रिय, ४. चतुरिन्द्रिय और ५. पंचेन्द्रिय।

३. **कायमार्गणा**—'चीयते इति कायः'—पुद्गलों के मिलने-बिखरने के द्वारा जो चय-उपचय धर्म को प्राप्त करे उसे काय कहते हैं। अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। उसके छह भेद हैं—१. पृथ्वीकाय, २. जलकाय, ३. तेजस्काय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय।

४. **योगमार्गणा**—मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं। अथवा

---

१ नारकतैर्यग्योनमानुषदेवानि।
—तत्त्वार्थसूत्र ८/१०

२ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। —तत्त्वार्थसूत्र २/१९

वीर्यशक्ति के जिस परिस्पन्दन से—आत्मिक प्रदेशों की हलचल से जीव की भोजन, गमन आदि क्रियायें होती है, उसे योग कहते हैं। योग का विस्तार से पूर्व में विचार किया जा चुका है, तदनुसार यहाँ समझ लेना चाहिए। योग के सामान्य से तीन भेद हैं—१. मनोयोग, २. वचनयोग, ३. काययोग और उनके क्रमश चार, चार और सात अवान्तर भेद होने से योगों के पन्द्रह भेद होते हैं।

५. **वेदमार्गणा**—'वेद्यते इति वेदः'—जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन-अनुभव किया जाये, उसे वेद कहते हैं। वेद अभिलाषा रूप है। उसके तीन भेद हैं—१. स्त्रीवेद, २. पुरुषवेद, ३. नपुंसकवेद।[1]

६. **कषायमार्गणा**—जिसमें प्राणी परस्पर दण्डित-दुःखी हों, उसे कष् यानी संसार कहते हैं। अतः जिसके द्वारा आत्मायें संसार को प्राप्त करें, उसमें भ्रमण करें, दुःखी हों, उसे कषाय कहते हैं। कषाय के चार भेद हैं—१. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ।[2]

७. **ज्ञानमार्गणा**—जिसके द्वारा जाना जाये उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक—भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुणों व पर्यायों को जाने वह ज्ञान है। ज्ञान के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी अज्ञान का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः पांच ज्ञान और तीन अज्ञान, इस प्रकार इसके आठ भेद हैं। जिनके नाम हैं—१. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनपर्यायज्ञान, ५. केवलज्ञान, ६. मति-अज्ञान, ७. श्रुत-अज्ञान, ८. विभंगज्ञान।

८. **संयममार्गणा**—संयम अर्थात् त्याग, सम्यक् प्रकार से विराम

---

१ स्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः।
—तत्त्वार्थसूत्र ८/९

२ क्रोधमानमायालोभाः।
—तत्त्वार्थसूत्र ८/१०

लेना, विरत होना, श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक सर्वथा पापव्यापार का त्याग करना संयम अथवा चारित्र कहलाता है। उसके पांच भेद हैं— १. सामायिक, २. छेदोपस्थापना, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्मसंपराय ५. यथाख्यात।[1]

संयम के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षभूत और आंशिक का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः १. असंयम और २. देशसंयम का ग्रहण करने से संयममार्गणा के कुल सात भेद हैं।

९. **दर्शनमार्गणा**— दर्शन अर्थात् देखना। अथवा सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के विषय में जाति, गुण, लिंग, क्रिया की अपेक्षा के बिना सामान्यमात्र जो बोध, उसे दर्शन कहते हैं। उसके चार भेद हैं— १. चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन, ४. केवलदर्शन।[2]

१०. **लेश्यामार्गणा**— जिस परिणाम के द्वारा आत्मा का कर्मों के साथ श्लेषण–चिपकना होता है, उसे लेश्या कहते हैं।[3] योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्य के योग से हुआ आत्मा का जो शुभाशुभ परिणामविशेष लेश्या कहलाता है। लेश्या के छह भेद हैं— १. कृष्ण, २. नील, ३. कापोत, ४. तैजस्, ५. पद्म और ६ शुक्ल लेश्या।[4]

---

१ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातमितिचारित्रम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ९ | १८
सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त पांच चारित्रों का सामान्य परिचय परिशिष्ट में दिया है।

२ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां।
—तत्त्वार्थसूत्र ८/७

३ लिश्यते श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या।
—पंचसंग्रह मलयगिरि टीका पृ. १२

४ योग के साथ लेश्याओं का अन्वय-व्यतिरेक संबन्ध है। क्योंकि योग के सद्भाव रहने तक लेश्यायें होती हैं और योग के अभाव में अयोगि अवस्था में नहीं होती हैं। इस प्रकार लेश्याओं का अन्वय-व्यक्तिरेक संबन्ध योग के साथ होने से लेश्यायें योगान्तर्गत द्रव्य हैं, यह समझना चाहिये।

११. **भव्यमार्गणा**—तथारूप अनादि पारिणामिकभाव द्वारा मोक्ष-गमन के योग्य जो आत्मा उसे भव्य[1] और तथाप्रकार के अनादि पारिणामिकभाव द्वारा मोक्षगमन के जो आत्मा अयोग्य उसे अभव्य कहते हैं। यहाँ भव्य के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षभूत अभव्य का भी ग्रहण करना चाहिये। इसलिये इसके दो भेद हैं- १. भव्य, २. अभव्य।

१२.—**सम्यक्त्वमार्गणा**—सम्यक् शब्द प्रशंसा अथवा अविरुद्ध अर्थ का द्योतक है। अतः सम्यक् जीव का भाव—परिणामविशेष सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व के तीन भेद हैं-१. क्षायिक, २. क्षायोपशमिक, ३. औपशमिक।[2] सम्यक्त्व के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी १. मिथ्यात्व, २. सासादन और ३. मिश्र (सम्यग्-मिथ्यात्व) का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार [illegible]क्त्वमार्गणा के कुल छह भेद हैं।

१३. **संज्ञीमार्गणा**—जिसके द्वारा पूर्वापर का विचार किया जा सके, उसे संज्ञा कहते हैं। संसारी जीवों के पास विचार करने का साधन मन है। अतः मन वाले जीवों को संज्ञी और उनके प्रतिपक्षी मनरहित जीवों—एकेन्द्रियादि जीवों को असंज्ञी कहते हैं। इसके दो भेद हैं-१. संज्ञी और २. असंज्ञी।

१४. **आहारमार्गणा**—ओज, लोम और कवल, इन तीन प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार जो करता है उसे आहारी—आहारक[3] और इन तीनों में से एक भी प्रकार का आहार जो नहीं

---

१ भव्यस्तथारूपानादिपारिणामिकभावात्सिद्धिगमनयोग्यः।
—पंचसंग्रह मलयगिरि टीका पृ. १२

२ तीनों प्रकार के सम्यक्त्व का विशेष स्वरूप उपशमनाकरण में देखिये। सम्यक्त्व की प्राप्तिविषयक चर्चा का सारांश परिशिष्ट में दिया है।

३ ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारयतीत्याहारकः।
—पंचसंग्रह मलय. टी. पृ. १३

→

करता है उसे अनाहारक—अनाहारी कहते हैं। आहारी के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी अनाहारी का भी ग्रहण किये जाने से आहारमार्गणा के दो भेद इस प्रकार हैं—१. आहारी और २. अनाहारी।

औदारिक आदि तीन शरीरों और आहार, शरीर आदि छह पर्याप्तियों के योग्य अथवा उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य में (गोम्मटसार जीवकांड में) आहार का लक्षण इस प्रकार बताया है—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ ६६३

शरीर नामकर्म के उदय से शरीर, वचन और द्रव्यमन रूप बनने के योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं।

ओज-आहार आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

सरिरेणोवाहारो तयाइ फासेण लोमआहारो ॥
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा. ११८०

गर्भ में उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणित रूप आहार कार्मण शरीर के द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे ओज-आहार, स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, उसे लोम और जो अन्न आदि खाद्य मुख द्वारा ग्रहण किया है, उसे कवलाहार (प्रक्षेपाहार) कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य में आहार के छह भेद बताये हैं—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय परिच्छेद

नोकर्म, कर्म, कवल, लेप्य, ओज और मानस, आहार के क्रमशः ये छह भेद हैं।

इस प्रकार मार्गणाओं के मूल चौदह भेद और उनके अवान्तर भेदों की कुल संख्या बासठ जानना चाहिये—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८, संयम ७, दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, सम्यक्त्व ६, संज्ञी २, आहार २। इन सब भेदों की संख्या मिलाने पर मार्गणाओं के उत्तर भेद बासठ होते हैं।

मार्गणाओं में योग

अब इनमें से कतिपय मार्गणाओं में विधिमुखेन और कुछ एक में प्रतिषेधमुखेन योगों का निर्देश करते हैं।

योगों के मूल तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके क्रमशः चार, चार और सात अवान्तर भेदों के लक्षण सहित नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं।

उनमें से मनोयोग के चार भेद कौन-कौनसी मार्गणाओं में संभव हैं और किनमें सम्भव नहीं हैं, इन दोनों को स्पष्ट करने के लिये गाथा में पद दिया है—'इगिविगलथावरेसु न मणो' अर्थात् इन्द्रियमार्गणा के पांच भेदों में से एकेन्द्रिय, विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा के स्थावर रूप पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति कायरूप पांच भेदों में मनोयोग नहीं होता है। अर्थात् इनमें मूलतः मनोयोग न होने से उसके सत्य, असत्य आदि चारों भेदों में से एक भी भेद नहीं पाया जाता है तथा उपलक्षण से समकक्ष असंज्ञी और अनाहारक इन दो मार्गणाओं में भी मनोयोग सर्वथा नहीं पाया जाता है।

सारांश यह है कि इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक के चार भेदों, कायमार्गणा के पृथ्वीकाय आदि वनस्पतिकाय पर्यन्त के पांच भेदों, संज्ञीमार्गणा के भेद असंज्ञी तथा आहारमार्गणा के भेद अनाहारक, इन ग्यारह मार्गणाओं में मनोयोग के चार भेदों में से एक भी नहीं होता है।

विधिमुखेन उक्त कथन का यह आशय फलित होगा कि मार्गणाओं के बासठ अवान्तर भेदों में से ग्यारह में तो मनोयोग मूलतः ही

नहीं होता है और शेष इक्यावन भेदों में मनोयोग पाया जाता है। लेकिन सामान्य से इनमें मनोयोग पाये जाने पर भी उत्तरभेदों की अपेक्षा कुछ अपवाद हैं। जिनको स्पष्ट किया है 'न मणो दो भेय केवल-दुगंमि' अर्थात् केवलद्विक— केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओं में असत्य और सत्यासत्य यह दो मनोयोग तो नहीं होते हैं किन्तु सत्य और असत्यामृषा मनोयोग होते हैं।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई अनुत्तर विमानवासी या मनपर्यायज्ञानी अपने स्थान पर रहकर मन से ही केवली से प्रश्न पूछते हैं तब उनके प्रश्नों को केवलज्ञान द्वारा जानकर केवलज्ञानी मन से ही उनका उत्तर देते हैं, यानी मनोद्रव्य[1] को ग्रहण कर ऐसी रचना करते हैं कि जिससे प्रश्नकर्ता अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान से जानकर केवलज्ञानी द्वारा दिये गये उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते हैं।

मनोद्रव्य को अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान द्वारा जान लेना स्वाभाविक है, क्योंकि मूर्त्त रूपी द्रव्य उनका विषय है।[2] यद्यपि मनोद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म है, लेकिन जैसे कोई मनोवैज्ञानिक किसी के चेहरे के भावों को देखकर उसके मनोभावों का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञानी और मनपर्यायज्ञानी भी मनोद्रव्य की रचना देखकर अनुमान द्वारा यह जान लेते हैं कि ऐसी मनोरचना द्वारा अमुक अर्थ का चिन्तन किया गया होना चाहिये।

अब वचनयोग के भेदों का विचार करते हैं—

'इगिथावरे न वाया' अर्थात् इन्द्रियमार्गणा के भेद एकेन्द्रिय में तथा कायमार्गणा के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति, इन पांच स्थावर

---

१ दिगम्बर साहित्य में भी केवलज्ञानी के द्रव्यमन का संबंध माना है। देखिये गोम्मटसार जीवकांड गाथा २२७, २२८

२ रूपिष्ववधेः। तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य।

—तत्त्वार्थसूत्र १ | २७,२८

रूप भेदों में तथा उपलक्षण से आहारमार्गणा के भेद अनाहारक, इन ७ मार्गणाओं में वचनयोग के चारों भेद नहीं होते हैं।

शेष मार्गणाभेदों में वचनयोग के चार उत्तरभेदों में से जो जिसमें पाया जाता है, अब इसको स्पष्ट करते हैं—

'विगलेसु असच्चमोसेव' अर्थात् विकलेन्द्रियों—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों, इन्द्रियमार्गणा के इन तीन भेदों में तथा उपलक्षण से इनके ही समकक्ष असंज्ञियों में भी असत्यामृषा वचनयोग समझना चाहिए। क्योंकि इनमें वचनयोग की साधन रूप भाषालब्धि होती है, इसलिए इनमें असत्यामृषा वचनयोग होता है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओं में सत्य और असत्यामृषा यह दो वचनयोग होते हैं, जो केवली भगवान को देशना देने आदि के समय होते हैं।

पूर्वोक्त के अतिरिक्त जिन मार्गणास्थानों में मनोयोग के चार और वचनयोग के चार भेद होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

गतिमार्गणा—नरकादि चारों गति, इन्द्रियमार्गणा—पंचेन्द्रिय, कायमार्गणा—त्रसकाय, योगमार्गणा—मन आदि तीनों योग और भेदापेक्षा तथारूप अपना अपना योग, वेदमार्गणा—स्त्री आदि तीनों वेद, कषायमार्गणा—क्रोधादि चारों कषाय, ज्ञानमार्गणा—केवलज्ञान के सिवाय शेष मतिज्ञान आदि सात भेद तथा केवलज्ञान में सत्य, असत्यामृषा नामक मनोयोग-वचनयोगद्वय, संयममार्गणा—सामायिक आदि सात भेद, दर्शनमार्गणा—चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन में सत्य, असत्यामृषा मनोयोग-वचनयोग, लेश्यामार्गणा—कृष्णादि छहों लेश्या, भव्यमार्गणा—भव्य अभव्य दोनों भेद, सम्यक्त्व-मार्गणा—उपशम सम्यक्त्व आदि छहों भेद, संज्ञीमार्गणा—संज्ञी जीव, आहारमार्गणा—आहारी जीव।

इस प्रकार बासठ मार्गणास्थानों में विधि-निषेध प्रणाली से

मनोयोग और वचनयोग के भेदों को बतलाने के पश्चात् अब काययोग के सात भेदों का निर्देश करते हैं—

सर्वप्रथम कार्मणकाययोग के बारे में बतलाते हैं कि 'अंतरगइ केवलिएसु कम्म' अर्थात् अपान्तरालगति (विग्रहगति) और केवलि-समुद्घात-अवस्था के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में मात्र कार्मणयोग होता है, लेकिन इसके अतिरिक्त अन्यत्र विवक्षा से समझना चाहिए कि यदि सत्ता रूप में विवक्षा की जाये तो होता है और योग रूप में विवक्षा की जाये तो नहीं होता है। क्योंकि पूर्वोक्त के सिवाय शेष समयों में औदारिकमिश्र या औदारिक आदि शुद्ध काययोग होते हैं, लेकिन मात्र कार्मणकाययोग नहीं होता है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वैसे तो समस्त संसारी जीव सदैव कार्मणशरीर से संयुक्त हैं। चाहे वर्तमान भव हो या भवान्तर हो अथवा इस भव को छोड़कर भवान्तर में जाने का प्रसंग हो, सर्वत्र कार्मणकाययोग साथ में रहेगा ही और जब इसका अंत हो जायेगा तब जीव के संसार का भी अंत हो जाता है। लेकिन सिर्फ कार्मण शरीर ही हो, अन्य शरीरों के साथ मिला-जुला होकर संसारी जीवों में न पाया जाये तो इसको स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार आचार्य ने निर्देश किया है—'अन्तरगई केवलिएसु कम्म'।

अर्थात् मात्र कार्मणयोग संसारी जीवों में तभी पाया जायेगा जब वे भव से भवान्तर का शरीर ग्रहण करने के लिए गति करते हैं और उत्पत्ति के प्रथम समय तक तथा केवली भगवान् यद्यपि संसार के कारणभूत कर्मों का क्षय कर चुके हैं और अवशिष्ट कर्मों का क्षय होने पर सदा के लिए संसार का अंत कर देंगे, मुक्त हो जायेंगे। किन्तु आयुस्थिति की अल्पता एवं अन्य कर्मों की कालमर्यादा अधिक होने पर आयुस्थिति के बराबर उन शेष कर्मों की काल-मर्यादा करने के लिए जब अष्ट सामयिक केवलिसमुद्घात-प्रक्रिया करते हैं तब उस प्रक्रिया के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में भी मात्र कार्मणयोग पाया जाता है। इन दोनों स्थितियों के सिवाय शेष

समझ में सत्ताईस और औदारिक अपर्याप्त विवक्षा से संसारी जीवों में कार्मण काययोग का सद्भाव समझना चाहिए।

अपान्तरालगति और केवलिसमुद्घात में मात्र कार्मणकाय-योग प्राप्त होने के उक्त कथन पर जिज्ञासु पूछता है—

प्रश्न—विग्रहगति और केवलिसमुद्घात में मात्र कार्मण काययोग पाया जाता हो, लेकिन यहाँ मार्गणास्थानों में योगों की प्ररूपणा की जा रही है तो इन दोनों का किस मार्गणा में समावेश किया जायेगा ?

उत्तर—यद्यपि यह दोनों साक्षात मार्गणायें नहीं हैं और न मार्गणाओं के अवान्तर भेद हैं, किन्तु कार्मण काययोग की विशेष स्थिति बतलाने एवं गति, इन्द्रिय, काय, वेद और संज्ञी असंज्ञी जीवों के अपान्तरालगति में भी अपने-अपने नाम से कहलाने के कारण का बोध कराने की दृष्टि से यह कथन समझना चाहिये। कदाचित् यह कहो कि अपने-अपने नाम वाले कैसे कहलाते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि अपनी-अपनी आयु के उदय के कारण। जैसी कि आगम में उनकी कायस्थिति बतलाई है—

एगिंदियाणणंता दोण्णिसहस्सा तसाण कायठिति।
अयराण इग पणिंदिसु नरतिरियाणं सगट्ठ भवा॥
पुरिसत्त सण्णित्त सयपुहत्त तु होइ अयराणं।
थी पलियसयपुहुत्त नपुंसगत्त अणंतद्धा॥

यदि अन्तरालगति में उक्त गति आदि का व्यपदेश प्राप्त न हो तो इतनी कायस्थिति घटित नहीं होती है और उसके घटित न होने से महान दोष होगा। क्योंकि उस समय में (विग्रहगति में) इन्द्रिय आदि तो होती नहीं हैं। इसलिये यह समझना चाहिये कि सप्रभेद इन पांच मार्गणा वाले जीवों के विग्रहगति में तथा केवली अवस्था में प्राप्त केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यातसंयम मार्गणाओं में

कार्मण काययोग होता है। अन्यत्र विवक्षा से सद्भाव, असद्भाव समझना चाहिये। जिन मार्गणाओं में कार्मण काययोग नहीं पाया जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, मनपर्यायज्ञान, विभंगज्ञान, आहारक मार्गणा।

चक्षुदर्शनमार्गणा में कार्मणकाययोग न मानने का कारण यह है कि कार्मणकाययोग विग्रहगति में होता है, लेकिन वहाँ चक्षुदर्शन का अभाव है। यद्यपि लब्धि की अपेक्षा वहाँ भी चक्षुदर्शन पाया जाता है, लेकिन उसका यहाँ विचार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तक जीवों के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन दो ही उपयोग होते हैं। मनपर्यायज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्यों में पाया जाता है तथा विभंगज्ञान पर्याप्तक संज्ञी के होता है, अतः उस समय कार्मणकाययोग संभव नहीं है। आहारक और कार्मणकाययोग में विरोध होने से आहारकमार्गणा में भी कार्मणकाययोग नहीं पाया जाता है।

पूर्वोक्त के अतिरिक्त जिन मार्गणाओं में कार्मणकाययोग यथासंभव पाया जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—कषायचतुष्क, लेश्याषट्क, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, भव्य, अभव्य, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि।

इस प्रकार से कार्मणकाययोग की संभवता के बारे में विचार करने के पश्चात् अब काययोग के अन्य भेदों के बारे में विचार करते हैं—

'मणणाणविभंगेसु मीसं उरलंपि न संभवइ'—अर्थात् ज्ञानमार्गणा के मनपर्यायज्ञान और विभंगज्ञान इन दो भेदों में कार्मणकाययोग के साथ औदारिकमिश्र काययोग भी नहीं होता है। क्योंकि औदारिकमिश्र मनुष्य, तिर्यंचों को अपर्याप्त अवस्था में पाया जाता है। परन्तु वहाँ ये दोनों ज्ञान नहीं होते हैं और मनपर्यायज्ञान द्रव्य एवं भाव से संयमी साधु को ही होता है और वह भी पर्याप्त अवस्था में।

विभंगज्ञान मनुष्य तिर्यंचों को अपर्याप्त अवस्था में उत्पन्न ही नहीं होता है। यही बात देव और नारकों के लिये भी समझना चाहिये कि भवधारणीय शरीर वैक्रिय होने से उनमें भी औदारिकमिश्र और औदारिक काययोग नहीं होते हैं तथा गाथा का द्वितीय पादगत 'अपि' शब्द बहुलार्थक होने से यह अर्थ समझना चाहिये कि चक्षुदर्शन और अनाहारक मार्गणा में औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र यह तीनों काययोग नहीं होते हैं।

अनाहारक और चक्षुदर्शन में औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र तीनों काययोग न मानने का कारण यह है कि अनाहारक अवस्था विग्रहगति में पाई जाती है और उस समय सिर्फ कार्मण काययोग होता है किन्तु अन्य कोई औदारिक आदि शरीर नहीं होते हैं। औदारिक आदि शरीर तो शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् बनते हैं और जब बनते हैं तब कार्मण और औदारिक आदि शरीरों की मिश्र अवस्था संभव है, इससे पूर्व नहीं। इसीलिये अनाहारक मार्गणा में औदारिकमिश्र आदि तीनों काययोग नहीं माने जाते हैं तथा चक्षुदर्शन में औदारिकमिश्र आदि तीनों काययोग न मानने का कारण यह है कि चक्षुदर्शन अपर्याप्त दशा में नहीं पाया जाता है। अतः ये अपर्याप्तदशाभावी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग भी उसमें संभव नहीं हैं।

कदाचित् यह कहा जाये कि अपर्याप्त अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्णन बन जाने के बाद चक्षुदर्शन मान लिया जाये तो उसमें अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र काययोग का अभाव कैसे माना जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्व में गाथा ७ के प्रसंग में मतान्तर का उल्लेख किया है। जो अपर्याप्त अवस्था में शरीरपर्याप्ति पूर्ण न हो जाने तक मिश्रयोग मानता है और हो जाने के बाद नहीं मानता है। इस मत के अनुसार अपर्याप्त अवस्था में जब चक्षुदर्शन होता है, तब मिश्रयोग नहीं होता है, जिससे कि चक्षुदर्शन में मिश्रयोग नहीं मानना ठीक है।

'केवल थावर .....न संभवइ' अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन और उसकी सहभावी यथाख्यातचारित्र इन तीन मार्गणाओं में तथा वायुकाय को छोड़कर पृथ्वी, अप्, तेज और वनस्पतिकाय इन चार स्थावरों और विगले—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन दस मार्गणाओं में वैक्रिय और वैक्रियमिश्र यह दो काययोग नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि लब्धिप्रत्ययोग में प्रमाद कारण है और सातवें गुणस्थान से आगे किसी भी गुणस्थान में लब्धिप्रयोग नहीं होता है, जिससे केवलद्विक और यथाख्यातसंयममार्गणा में वैक्रियद्विक नहीं होते हैं तथा वायुकायिक जीवों के अतिरिक्त शेष पृथ्वीकायिक आदि स्थावरचतुष्क आदि में लब्धि होती ही नहीं है, जिससे उनमें वैक्रियद्विक काययोग संभव नहीं हैं। इन सब कारणों से केवलद्विक आदि दस मार्गणाओं में वैक्रियद्विक काययोग पाये जाने का निषेध किया है।

अब आहारकद्विक काययोगों का विचार करते हैं कि आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र यह दोनों काययोग आहारकलब्धिसंपन्न चतुर्दश पूर्वधर संयत मुनि के सिवाय अन्य किसी को नहीं होते हैं, अतः 'जायइ चोद्दसपुव्विस्स' यह विशेषण जिन मार्गणाओं में घटित हो ऐसी मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति इत्यादि मार्गणाओं में स्वबुद्धि से योजना कर लेना चाहिए। अर्थात् जिन मार्गणाओं में चौदह पूर्वों का अध्ययन संभव हो, उन मार्गणाओं में आहारक और आहारकमिश्रकाय योग मानना चाहिये, शेष मार्गणास्थानों में नहीं। जैसे कि पूर्वोक्त मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय के उपरान्त त्रसकाय, पुरुष, नपुंसक वेद, ये दो वेद आदि।

जिन मार्गणाओं में आहारकद्विक काययोग संभव हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—गतिमार्गणा में—मनुष्यगति, इन्द्रियमार्गणा में—पंचेन्द्रिय, कायमार्गणा में-त्रस, योगमार्गणा में-तीनों योग, वेदमार्गणा में—पुरुष नपुंसक वेद, कषायमार्गणा में—चारों कषाय, ज्ञानमार्गणा में—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञान, संयममार्गणा में—सामायिक

छेदोस्थापना, दर्शनमार्गणा में—चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन, लेश्यामार्गणा में—कृष्णादि छह लेश्या[1], भव्यमार्गणा में—भव्य, संज्ञीमार्गणा में—संज्ञी, सम्यक्त्वमार्गणा में—क्षायोपशमिक, क्षायिक, आहारकमार्गणा में—आहारक।

इनके अतिरिक्त शेष मार्गणाओं में आहारकद्विक काययोग नहीं होते हैं।

प्रत्येक मार्गणा में संभव योग

ऊपर कितनी ही मार्गणाओं में निषेधमुखेन अमुक योगों का असद्भाव तथा कितनी ही मार्गणाओं में विधिमुखेन सद्भाव बतलाया है। लेकिन उक्त कथन संक्षेप में होने से यह स्पष्ट नहीं होता है कि प्रत्येक मार्गणास्थान में कुल मिलाकर कितने योग होते हैं? अतः सरलता से बोध कराने के लिए अब समान संख्या में प्राप्त होने वाले योगों की अपेक्षा वर्ग बनाकर प्रत्येक मार्गणा में संभव योगों का निर्देश करते हैं।

तिर्यंचगति, स्त्रीवेद, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान,[2] अविरति, सासादन, अभव्य, मिथ्यात्व, औपशमिक सम्यक्त्व, इन दस मार्गणाओं में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग होते हैं। अर्थात् इन दस मार्गणाओं में मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण यह तेरह योग होते हैं। जिनका यथाक्रम से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ ग्रन्थकार आचार्य ने पीत आदि तीन शुभ लेश्याओं में आहारकद्विक योग माने हैं—लेश्याद्वारे शुभलेश्यात्रये।

२ पूर्व में विभंगज्ञान में औदारिकमिश्र का निषेध किया है और यहाँ उसको बतलाया है। तो इसका कारण ऐसा प्रतीत होता है कि अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये पहले निषेध किया लेकिन कोई देवगति से लेकर आये तो मनुष्यगति में संभव है। इसीलिये यहाँ औदारिकमिश्र को ग्रहण किया गया है।

कार्मणयोग तो अपान्तरगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था में और औदारिक, मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय पर्याप्त अवस्था में तथा किन्हीं किन्हीं तिर्यंचों में वैक्रियलब्धि होने से तदपेक्षा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र होने से तेरह योग होते हैं।[1]

आहारकद्विक योग सर्वविरत चतुर्दशपूर्वधर को होते हैं, लेकिन तिर्यंचगति में सर्वविरत चारित्र संभव नहीं है। अतः उसमें आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र काययोग नहीं होते हैं।

मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान, अविरत सम्यग्दृष्टि, सासादन, अभव्य और मिथ्यात्व इन सात मार्गणाओं में आहारकद्विक के बिना जो तेरह योग माने गये हैं, उनमें से मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय, औदारिक और वैक्रिय ये दस योग तो पर्याप्त अवस्था में, कार्मण [illegible] विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में और औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र ये दो योग अपर्याप्त अवस्था में होते हैं।

अब शेष रही औपशमिक सम्यक्त्व और स्त्रीवेद इन दो मार्गणाओं में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग मानने को कारण सहित स्पष्ट करते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व में आहारकद्विक योग न मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—तिर्यंचगति आदि उक्त मार्गणाओं में तो चौदह पूर्व के अध्ययन का अभाव होने से आहारकद्विक का न होना माना जा सकता है, परन्तु औपशमिक सम्यक्त्व तो चौथे से लेकर ग्यारहवें

---

१ दिगम्बर साहित्य में तिर्यंचगति में ग्यारह योग माने गये हैं—

वेउव्वाहार दुगूण तिरिए। दि. पंचसंग्रह ४/४४

लेकिन यह कथन सामान्य तिर्यंच की विवक्षा से किया गया समझना चाहिए।

गुणस्थान तक होता है और इनमें छठे से लेकर ग्यारहवें तक के गुण-स्थानों में सर्वविरति होती है तो वहाँ आहारकद्विक क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर—उपशम सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं—ग्रंथि-भेद-जन्य, उपशम-श्रेणी वाला। इनमें से अनादि मिथ्यात्वी जो पहले गुणस्थान में तीन करण करके ग्रंथि-भेद-जन्य उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस समय तो चौदह पूर्व का अभ्यास होता ही नहीं है। जिससे आहारकद्विक हो सकें और जो श्रमणपर्याय में चारित्र-मोहनीय की उपशमना करने के लिए उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद तत्काल ही चारित्र-मोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करते हैं, वे कोई लब्धि हो तब भी उसका प्रयोग नहीं करते हैं, इसलिए तब भी उनको आहारकद्विक नहीं होते हैं।

सारांश यह है कि उपशम-श्रेणी पर आरूढ जीव श्रेणी में प्रमाद का अभाव होने से आहारक शरीर करता ही नहीं है। क्योंकि आहारक शरीर का प्रारम्भ करने वाला लब्धि-प्रयोग के समय उत्सुकतावश प्रमादयुक्त होता है और आहारक काययोग में जो विद्यमान है, वह स्वभाव से ही उपशम-श्रेणि मांडता नहीं। इस प्रकार परस्पर विरोध होने से उपशम सम्यक्त्व में आहारकद्विक योग नहीं माने जाते हैं।

आहारकद्विक के सिवाय शेष रहे मनोयोग-चतुष्टय आदि तेरह योग औपशमिक सम्यक्त्व में इस प्रकार समझना चाहिए कि मनोयोग-चतुष्टय, वचनयोग-चतुष्टय, औदारिक और वैक्रिय, यह दस योग पर्याप्त अवस्था में और औदारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण अपर्याप्त अवस्था में पाये जाते हैं। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग देवों की अपेक्षा से समझना चाहिए।

यहाँ कदाचित् यह कहा जाये कि उपशमश्रेणि में आयु क्षय होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होने से वहाँ अपर्याप्त अवस्था में उपशम सम्यक्त्व होता है। अतः उस अपेक्षा से कार्मण और वैक्रिय-

मिश्र योग माना जा सकता है, औदारिकमिश्र नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि कार्मग्रंथिक मतानुसार मनुष्य तिर्यंच को अपर्याप्त अवस्था में और केवलिसमुद्घात इन तीन स्थितियों में औदारिकमिश्र योग होता है। लेकिन केवली को उपशम सम्यक्त्व होता नहीं और मनुष्य तिर्यंच अपर्याप्त अवस्था में नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करते नहीं एवं श्रेणिप्राप्त जीव मर कर देवगति में जाते हैं। लेकिन सिद्धान्त में उत्तर वैक्रिय करते समय मनुष्य और तिर्यंचों को प्रारंभ काल में औदारिकमिश्र योग होता है और उस समय यदि जीव नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसकी अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व में औदारिकमिश्र काययोग माना जा सकता है। इस सैद्धान्तिक दृष्टि से औपशमिक सम्यक्त्व में औदारिकमिश्र योग मानने का यहाँ उल्लेख किया है।

स्त्रीवेद में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग इस प्रकार संभव हैं—

मनोयोग-चतुष्क, वचनयोग-चतुष्क, वैक्रियद्विक और औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य, तिर्यंच स्त्री को पर्याप्त अवस्था में, वैक्रियमिश्र काययोग देव स्त्री को अपर्याप्त अवस्था में और कार्मण काययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्री को केवलिसमुद्घात अवस्था में होता है।

स्त्रीवेद में आहारकद्विक योग न मानने का कारण यह है कि सर्वविरति संभव होने पर भी स्त्री जाति को दृष्टिवाद—जिसमें चौदह पूर्व हैं—पढ़ने का निषेध है। इस निषेध का कारण द्रव्यरूप स्त्रीवेद जानना चाहिए, भावरूप स्त्रीवेद नहीं। क्योंकि यहाँ इसी प्रकार की विवक्षा है। द्रव्यवेद का मतलब बाह्य आकार है। आहारकद्विक चौदह पूर्वधारी को होते हैं और स्त्रियों को दृष्टिवाद पढ़ने का निषेध होने से उनको चौदह पूर्व का अभ्यास नहीं होता है तो आहारकद्विक नहीं हो सकते हैं। इसी कारण स्त्रीवेद में आहारकद्विक काययोग मानने का निषेध किया है।

मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रसकाय, काययोग, पुरुषवेद, नपुंसकवेद[1], कषायचतुष्क, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन कृष्णादिलेश्याषट्क, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, भव्य, संज्ञी और आहारक, इन छब्बीस मार्गणाओं में सभी पन्द्रह योग होते हैं।

इन छब्बीस मार्गणाओं का सम्बन्ध मनुष्य के साथ है। अर्थात् ये छब्बीस मार्गणायें मनुष्यों में पाई जा सकती हैं और मनुष्य में सभी योग संभव हैं। इसलिए इनमें सभी योग माने जाते हैं। यह इस प्रकार समझना चाहिए कि कार्मणकाययोग अन्तरालगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में तथा केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे, पांचवें समय में, औदारिकमिश्रअपर्याप्त अवस्था में, मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय, औदारिक योग पर्याप्त-अवस्था तथा वैक्रियद्विक, आहारकद्विक उस-उस लब्धिप्रयोग के समय में।

यद्यपि कहीं-कहीं यह भी कथन मिलता है कि आहारकमार्गणा में कार्मणकाययोग के सिवाय अन्य सभी (१४ योग) होते हैं और इसके लिए युक्ति यह है कि उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव जो आहार करता है, उसमें गृह्यमाण पुद्गलों के कारण होने से कार्मण काययोग मानने की जरूरत नहीं है।[2] तो इसका समाधान यह है कि प्रथम समय में कार्मण काययोग से ही आहार का ग्रहण होता है और ग्रहण किए गए पुद्गल दूसरे समय से लेकर शरीर पूर्ण होने तक

---

१ दिगम्बर कार्मग्रंथिकों ने नपुंसकवेद में आहारकद्विक योग नहीं माने हैं—

इत्थी संढम्मि आहारदुगूणा।

—दि० पंचसंग्रह ४/४७

२ दिगम्बर कार्मग्रंथिकों ने आहारक मार्गणा में कार्मण काययोग को नहीं माना है—

आहारे कम्मूणा। —दि० पंचसंग्रह ४/५४

आहार ग्रहण में कारण रूप बनते हैं। किन्तु स्वयं अपने प्रथम समय में कारण रूप नहीं बन सकते हैं। क्योंकि उस समय तो वे स्वयं कार्य रूप हैं। इसलिये पहले समय में तो कार्मण काययोग द्वारा ही आहार ग्रहण होता है, जिससे आहारकमार्गणा में कार्मण काययोग भी माना जाता है। अर्थात् उत्पत्ति के प्रथम समय में कार्मण काययोग के सिवाय अन्य कोई योग न होने से कार्मण काययोग द्वारा ही आहारकत्व समझना चाहिए।

एकेन्द्रियमार्गणा में मनोयोग और वचनयोग के चार-चार भेद तथा आहारकद्विक के सिवाय शेष औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक और कार्मण यह पांच योग होते हैं। यह कथन वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय होते हैं और उनमें से कुछ एक पर्याप्त बादर वायुकायिक जीव वैक्रियलब्धि संपन्न भी होते हैं। जिससे वे वैक्रियद्विक के अधिकारी माने जाते हैं। यद्यपि पृथ्वी, जल, तेज और वनस्पतिकायिक ये चार स्थावर भी एकेन्द्रिय हैं किन्तु उनमें लब्धि नहीं होती है। जिससे उनमें एकेन्द्रिय में पाये जाने वाले पांच योगों में से वैक्रियद्विक के सिवाय शेष कार्मण और औदारिकद्विक ये तीन योग होते हैं। यदि एकेन्द्रियमार्गणा में तीन योग मानते तो वायुकायिक जीवों का समावेश नहीं हो पाता, इसलिए वायुकायिक जीवों के एकेन्द्रिय होने और उनमें वैक्रियलब्धि की संभावना से वैक्रियद्विक को मिलाने से एकेन्द्रियमार्गणा में पांच योग माने जाते हैं। इनमें से कार्मणकाययोग विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र काययोग उत्पत्ति के प्रथम क्षण को छोड़कर शेष अपर्याप्त अवस्था में, औदारिक योग पर्याप्त अवस्था में, वैक्रियमिश्र वैक्रिय शरीर बनाते समय और बनाने के बाद वैक्रिय काययोग होता है। शेष पृथ्वी आदि चार स्थावर एकेन्द्रियों में वैक्रियद्विक के अतिरिक्त शेष तीन योगों के होने की प्रक्रिया भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि कार्मण विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम

समय में, औदारिकमिश्र उत्पत्ति के प्रथम समय के बाद अपर्याप्त अवस्था में और औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था में।

पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवों में से कुछ एक को वैक्रियलब्धि मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—यह कैसे माना जाये कि किन्हीं-किन्हीं को वैक्रियलब्धि सम्भव है ? सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रियलब्धि संपन्न हैं और सवैक्रिय वायुकाय के जीव बहुत हैं किन्तु अवैक्रिय जीवों की वैसी प्रवृत्ति नहीं होती है।[1]

उत्तर—यह तर्क असंगत है कि सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रियलब्धि संपन्न होते। क्योंकि वायुकाय के अपर्याप्त-पर्याप्त, सूक्ष्म-बादर इन चार भेदों में से सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त और बादर अपर्याप्त इन तीन प्रकार के वायुकायिक जीवों में तो वैक्रियलब्धि होती ही नहीं है किन्तु पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवों के संख्यातवें भाग में होती है तथा वर्तमान में विक्रिया नहीं करने पर भी स्वभावतः उनमें वैक्रियलब्धि है।[2]

विकलेन्द्रियों—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियों में वचनयोग की साधन भाषालब्धि होने से और वचनयोग में भी असत्यामृषा वचनयोग होने से कार्मण, औदारिकद्विक और असत्यामृषा वचनयोग यह चार योग होते हैं।

मनोयोग, वचनयोग, मनपर्यायज्ञान, सामायिक, छेदोपस्थापना चारित्र इन पांच मार्गणाओं में औदारिकमिश्र और कार्मण के बिना

---

१ केई भणंति—सव्वे वेउव्विया वाया वायंति, अवेउव्वियाणं चिट्ठा चेव न पवत्तइ। —अनुयोगद्वार हरिभद्रीया टीका

२ इसका स्पष्टीकरण पूर्व में गाथा ७ के प्रसंग में किया जा चुका है। विशेष जानकारी के लिए अनुयोगद्वार टीका व प्रज्ञापनाचूर्णि देखिए।

शेष तेरह योग होते हैं। क्योंकि कार्मण काययोग विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में और औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था में होता है और उस समय में पर्याप्त अवस्थाभावी मनोयोग, संयम आदि का अभाव है। इसलिए ये दो योग नहीं होते हैं।

चक्षुदर्शन मार्गणा में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र इन चार के सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम इन दो संयम मार्गणाओं में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक इन छह योगों के विना मनोयोग और वचनयोग के चार-चार भेद और औदारिक काययोग ये नौ योग होते हैं। इसका कारण यह कि संयम पर्याप्त अवस्था में होता है। इसलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिक मिश्रयोग इनमें नहीं पाये जाते हैं तथा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र इन दो योगों के न होने का कारण यह है कि वैक्रियद्विक लब्धिप्रयोग करने वाले मनुष्य को होते हैं और लब्धिप्रयोग में औत्सुक्य व प्रमाद संभव है, किन्तु परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम प्रमाददशा में नहीं होते हैं। इन दोनों संयम के धारी अप्रमादी होते हैं। अप्रमादी होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते हैं। अतः वैक्रियद्विक योग इन दोनों संयमों में नहीं होते हैं। आहारक और आहारकमिश्र यह दो योग भी इन दोनों संयमों में इसलिए नहीं पाये जाते हैं कि आहारक और आहारकमिश्र ये दो योग चतुर्दश पूर्वधर प्रमत्त मुनि को ही होते हैं, किन्तु परिहारविशुद्धि संयमी कुछ कम दस पूर्व का पाठी होता है और सूक्ष्मसंपराय संयमी यद्यपि चतुर्दश पूर्वधर होता है लेकिन अप्रमत्त है। अतः इन दोनों संयमों में आहारकद्विक योग नहीं माने हैं।

इस प्रकार कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक ये छह योग संभव नहीं होने से शेष रहे मनोयोग और बचनयोग के

चार-चार और औदारिक काययोग एक, कुल मिलाकर नौ योग परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में होते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि में परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में प्राप्त पूर्वोक्त नौ योगों के साथ वैक्रिय योग को मिलाने पर दस योग होते हैं। इसमें वैक्रिययोग मिलाने का कारण यह है कि देव और नारक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले होते हैं तथा इस मिश्र सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि इसमें मृत्यु नहीं होती है, जिससे अपर्याप्त अवस्था में यह नहीं पाया जाता है। इसलिए अपर्याप्त दशाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग नहीं होते हैं तथा चौदहपूर्व का ज्ञान भी संभव न होने से आहारकद्विक योग भी नहीं होते हैं। इसी कारण कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकद्विक इन पाँच योगों को छोड़कर शेष दस योग मिश्र सम्यक्त्व में माने हैं।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में प्राप्त पूर्वोक्त नौ योगों में वैक्रियद्विक योग को मिलाने पर देशविरत मार्गणा में ग्यारह योग होते हैं। वैक्रियद्विक को देशविरत संयम में मानने का कारण यह है कि वैक्रियलब्धि की संभावना वहाँ है। अंबड़ आदि श्रावकों द्वारा वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर बनाये जाने का उल्लेख आगमों में देखने को मिलता है। किन्तु श्रावक के चतुर्दश पूर्वधर नहीं होने से उसमें आहारकद्विक योग तथा व्रत का पालन पर्याप्त अवस्था में संभव होने से औदारिकमिश्र और कार्मण योग नहीं माने जाते हैं। इसलिए आहारकद्विक, औदारिकमिश्र और कार्मण इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग देशविरत मार्गणा में माने गये हैं।

यथाख्यातसंयम में भी उपर्युक्त नौ योगों में औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग के मिलाने पर ग्यारह योग होते हैं। इन दोनों योगों का ग्रहण केवलिसमुद्घात की अपेक्षा किया गया है। क्योंकि केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र और तीसरे,

चौथे और पांचवें समय में कार्मणयोग होता है। आहारकद्विक और वैक्रियद्विक इन चार योगों को यथाख्यातसंयम में न मानने का कारण यह है कि ये चारों प्रमाद सहचारी हैं किन्तु यह चारित्र अप्रमाद अवस्थाभावी ग्यारहवें से लेकर चौदहवें तक के चार गुणस्थानों में होता है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणाओं में सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग यह सात योग होते हैं। इसका कारण यह है कि सत्य और असत्यामृषा मनोयोग मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देवों के मन द्वारा शंका पूछने पर उसका मन द्वारा उत्तर देते समय तथा यही दोनों वचनयोग देशना देते समय होते हैं तथा सयोगिकेवली को अष्ट सामयिक केवलिसमुद्घात के दूसरे से सातवें तक छह समयों को छोड़कर औदारिकयोग तो सदैव रहता ही है तथा औदारिकमिश्र केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में तथा कार्मण योग तीसरे, चौथे, पांचवें समय में होता है। इसलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणा में सत्य, असत्यामृषा मनोयोग, सत्य, असत्यामृषा वचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण यह सात योग माने जाते हैं।

असंज्ञी मार्गणा में औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, कार्मण और असत्यामृषावचनयोग यह छह योग होते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय ये सभी जीव असंज्ञी ही होते हैं। इसलिए औदारिकद्विक आदि कार्मण पर्यन्त पांच योग तो वायुकायिक व एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा तथा द्वीन्द्रियादि में वचनयोग की साधन भाषालब्धि होने तथा उनकी भाषा असत्यामृषा रूप होने से असत्यामृषा वचनयोग होता है। इसी कारण असंज्ञी मार्गणा में छह योग कहे गये हैं।

अनाहारकमार्गणा में एक कार्मण काययोग ही होता है। यहाँ

यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग होना ही चाहिए। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक अवस्था होने पर भी किसी प्रकार का योग नहीं रहता है और यह भी नियम नहीं है कि कार्मणयोग के समय अनाहारक अवस्था अवश्य ही होती है। क्योंकि उत्पत्ति के क्षण में विग्रहगति के समय कार्मणयोग होने पर भी जीव अनाहारक नहीं है, वह कार्मणयोग के द्वारा ही आहार लेता है। लेकिन यह नियम है कि जीव की जब अनाहारक अवस्था हो तब कार्मण काययोग के सिवाय अन्य कोई योग नहीं होता है। इसी अपेक्षा से अनाहारक मार्गणा में सिर्फ कार्मण काययोग माना जाता है। देवगति और नरकगति मार्गणा में औदारिकद्विक, आहारकद्विक कुल चार योगों को छोड़कर शेष ग्यारह योग होते हैं। औदारिकद्विक, आहारकद्विक न मानने का कारण यह है कि देव व नारकों के भवस्वभाव से विरति न होने तथा विरति के अभाव में चतुर्दश पूर्व का ज्ञान न होने से आहारकद्विक योग होते ही नहीं हैं तथा देव व नारकों का भवप्रत्ययिक वैक्रिय शरीर होता है, अतएव औदारिकद्विक संभव नहीं हैं। इसीलिए देव नारकों के आहारकद्विक और औदारिकद्विक इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं। उन ग्यारह योगों के नाम इस प्रकार हैं—

मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क वैक्रियद्विक, कार्मणयोग। इनमें से कार्मण अन्तरालगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रियमिश्र अपर्याप्त अवस्था में तथा मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क और वैक्रिय काययोग पर्याप्त दशा में पाये जाते हैं।[1]

---

१ दिगम्बर कार्मग्रंथिकों का मार्गणाओं में योगसम्बन्धी कथन परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार मार्गणास्थानों के बासठ उत्तर भेदों में संभव योगों का कथन करने के पश्चात् अब योगों की तरह उनमें उपयोगों की संख्या बतलाते हैं।

मार्गणास्थानों में उपयोग

मणुयगईए बारस मणकेवलवज्जिया नवन्नासु।
इगिथावरेसु तिन्नि उ चउ विगले बार तससगले ॥१३॥
जोए वेए सन्नी आहारगभव्वसुक्कलेसासु।
बारस संजमसंमे नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥

शब्दार्थ—**मणुयगईए**—मनुष्यगति में, **बारस**—बारह, **मणकेवलवज्जिया**—मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक से रहित, **नव**—नौ, **अन्नासु**—अन्य गतियों में, **इगिथावरेसु**—एकेन्द्रिय और स्थावरों में, **तिन्नि**—तीन, **उ**—और, **चउ**—चार **विगले**—विकलेन्द्रियों में, **बार**—बारह, **तस**—त्रस, **सगले**—सकलेन्द्रियवाले पंचेन्द्रिय में।

जोए—योग में, **वेए**—वेद में, **सन्नी**—संज्ञी, **आहारग**—आहारक, **भव्व**—भव्य, **सुक्कलेसासु**—शुक्ललेश्या में, **बारस**—बारह, **संजम**—संयम, **संमे**—सम्यक्त्व मार्गणा में, **नव**—नौ, **दस**—दस, **लेसा**—लेश्या (शुक्ल के अतिरिक्त), **कसाएसु**—कषाय मार्गणा में।

गाथार्थ—मनुष्यगति में बारह उपयोग तथा शेष गतियों में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक से रहित (छोड़कर) नौ उपयोग होते हैं। एकेन्द्रिय और स्थावरों में तीन, विकलेन्द्रियों में चार, और पंचेन्द्रिय मार्गणा में बारह उपयोग होते हैं।

योग, वेद, संज्ञी, आहारक, भव्य और शुक्ललेश्या मार्गणा में बारह उपयोग तथा संयम और सम्यक्त्व मार्गणा में नौ एवं लेश्या और कषाय मार्गणा में दस उपयोग होते हैं।

विशेषार्थ—उपयोग का लक्षण और उसके बारह भेदों के नाम

तथा मार्गणास्थानों के लक्षण, भेद आदि पहले बताए जा चुके हैं। अब उन उपयोग भेदों को मार्गणास्थानों में घटित करते हैं कि प्रत्येक मार्गणा में कितने उपयोग होते हैं। जिसका प्रारम्भ मनुष्यगति से किया है।

'मणुयगईए बारस'—मनुष्यगति में सभी बारह उपयोग होते हैं। मनुष्यगति से उपयोग विचार का प्रारम्भ करने का कारण यह है कि मनुष्यगति पहले से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती है और उसमें मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, केवलज्ञानी आदि सभी जीवों का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने गये हैं।

यह बात तो हुई मनुष्यगति में संभव उपयोगविषयक, लेकिन 'अन्नसु'—अन्य गतियों अर्थात् मनुष्यगति से शेष रही देव, तिर्यंच और नरकगति में—'मणकेवलवज्जिया नव' मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन इन तीन के सिवाय शेष नौ उपयोग होते हैं। इन तीन मार्गणाओं में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक उपयोग इसलिए नहीं माने जाते हैं कि ये उपयोग सर्वविरतिसापेक्ष हैं। लेकिन देवगति, तिर्यंचगति और नरकगति में सर्वविरति संभव नहीं है। इसलिए उक्त तीन उपयोगों को छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं।

'इगिथावरेसु तिन्न'—इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा के भेद क्रमशः एकेन्द्रिय और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति रूप पांच स्थावरों में तथा उपलक्षण से द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय इन आठ मार्गणाओं में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते हैं। उपलक्षण से द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय को ग्रहण करने का कारण यह है कि इनमें भी एकेन्द्रिय जीवों की तरह चक्षुरिन्द्रिय नहीं होती है। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय सापेक्ष उपयोग भी इनमें नहीं पाया जाता है तथा सम्यक्त्व न होने से मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, अवधि व केवलदर्शन

और तथाविध योग्यता का अभाव होने से विभंगज्ञान यह आठ उपयोग भी न पाये जाने से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन ही उपयोग होते हैं।

'चउ विगले'—चतुरिन्द्रिय और उपलक्षण से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में चक्षु इन्द्रिय होने से एकेन्द्रिय मार्गणा में पाये जाने वाले मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन के साथ चक्षुदर्शन को मिलाने से चार उपयोग पाये जाते हैं। चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सम्यक्त्व न होने से सम्यक्त्व सहचारी मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवल ये पांच ज्ञान तथा अवधि व केवलदर्शन और तथाविध योग्यता न होने से विभंगज्ञान भी, इस प्रकार आठ उपयोग न पाये जाने से चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में अज्ञानद्विक—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और दर्शनद्विक—अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन कुल मिलाकर चार उपयोग होते हैं।

'तस सगले बार'—त्रसकाय और सकल—सकलेन्द्रिय-पंचेन्द्रिय मार्गणा में सभी बारह उपयोग होते हैं। त्रस और पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य भी हैं। अतः मनुष्यगति के समान सभी बारह उपयोग पाये जाने के कारण को यहाँ भी समझ लेना चाहिए तथा इसी प्रकार से 'जोए वेए·····' इत्यादि अर्थात् मन, वचन, काय योग, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, संज्ञी, आहारक, भव्य और शुक्ललेश्या इन दस मार्गणाओं में भी बारह उपयोग पाये जाते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मन, वचन, काय यह तीन योग, शुक्ललेश्या और आहारकत्व यह पांच मार्गणायें तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं। सयोगिकेवली भगवान मनोयोग का व्यापार मन द्वारा प्रश्नोत्तर के समय, वचनयोग का व्यापार देशना के समय और औदारिक काययोग का व्यापार विहार आदि शारीरिक क्रियाओं के समय करते हैं। इसलिए मनोयोग आदि तीनों योग तेरहवें गुणस्थान तक माने हैं। शुक्ललेश्या

सामान्य से सभी मनुष्यों में पाई जाती है और गुणस्थानों की अपेक्षा अपूर्वकरणादि संयोगिकेवली पर्यन्त गुणस्थानों में। अतः शुक्ललेश्या तेरहवें गुणस्थान तक मानी है।

प्रत्येक जीव जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त लोमाहार आदि आहारों में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करता रहता है और यह क्रम तेरहवें गुणस्थान तक चलता है। क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक जीवन-मुक्त दशा नहीं है। उक्त मार्गणाओं के अतिरिक्त तीन वेद, संज्ञित्व और भव्यत्व मार्गणायें चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं।

इन योग, वेद आदि मार्गणाओं में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि आदि सभी जीवों का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने जाते हैं और संज्ञी मार्गणा के असंज्ञी भेद में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान तथा चक्षु अचक्षु-दर्शन यह चार उपयोग होते हैं।

वेदत्रिक मार्गणाओं में माने गये बारह उपयोगों में केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगों का समावेश है। इनको द्रव्यवेद की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि अभिलाष रूप भाववेद तो नौवें गुणस्थान तक ही होता है। यही दृष्टि वेदों को चौदहवें गुणस्थान तक मानने के लिए भी जानना कि द्रव्यवेद की अपेक्षा सभी चौदह गुण-स्थान वेदमार्गणा में होते हैं किन्तु भाववेद में आदि के नौ गुणस्थान जानना चाहिए।

'संजमसंमे नव' अर्थात् पूर्ण संयम–यथाख्यातसंयम और पूर्ण सम्य-क्त्व–क्षायिकसम्यक्त्व इन दो मार्गणाओं में मिथ्यात्वोदय सहभावी मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान उपयोग न होने से शेष मतिज्ञान आदि नौ उपयोग होते हैं। क्योंकि क्षायिकसम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव ही होता है। मिथ्यात्व के पूर्ण रूप से क्षय होने पर ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है और यथाख्यातसंयम यद्यपि ग्यारह से चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है और ग्यारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व भी है लेकिन वह सत्तागत है, उदयगत नहीं। इसलिए

इन दोनों मार्गणाओं में अज्ञानत्रिक उपयोग नहीं होते हैं और शेष प्राप्त उपयोगों को इस प्रकार जानना चाहिए—

छद्मस्थ अवस्था में पहले चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, और अवधिदर्शन यह तीन दर्शन कुल सात उपयोग तथा केवली भगवन्तों के केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं। इस प्रकार उक्त सात और केवलद्विक को मिलाने से कुल नौ उपयोग होते हैं।

शुक्ललेश्यामार्गणा के उपयोगों का पृथक् से निर्देश किया है अतः उससे शेष रही कृष्ण, नील, कापोत, तेजो और पद्म, पांच लेश्या तथा कषायचतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ इन नौ मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय मतिज्ञान आदि दस उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें छठे गुणस्थान तक, तेज और पद्म लेश्यायें सातवें गुणस्थान तक होती हैं तथा क्रोधादि कषायचतुष्क का उदय दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है और ये गुणस्थान क्षायोपशमिक भावों की अपेक्षा रखते हैं और केवलद्विक उपयोग कृष्णादि लेश्याओं और क्रोधादि के रहने पर नहीं होते हैं किन्तु अपने-अपने आवरणकर्म के निःशेष रूप से क्षय से होने वाले हैं और तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाये जाते हैं। इसलिए कृष्णादि नौ मार्गणाओं में दस उपयोग माने हैं।

इस प्रकार से पृथक्-पृथक् नामोल्लेखपूर्वक कुछ एक मार्गणाओं में संभव उपयोगों का निर्देश करने के बाद अब शेष रही मार्गणाओं में उपयोगों को जानने के लिए सूत्र बतलाते हैं—

सम्मत्तकारणेहि मिच्छनिमित्ता न होंति उवओगा।
केवलदुगेण सेसा संतेव अचक्खुचक्खूसु ॥१५॥

शब्दार्थ—**सम्मत्तकारणेहि**—सम्यक्त्वकारणक-निमित्तक उपयोगों के साथ **मिच्छनिमित्ता**—मिथ्यात्वनिमित्तक, **न होंति**—नहीं होते हैं, **उवओगा**—

उपयोग, **केवलदुगेण**—केवलद्विक के साथ, **सेसा**—शेष, **संतेव**—होते ही हैं, **अचक्खुचक्खूसु**—अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन में (के साथ)।

गाथार्थ—सम्यक्त्वनिमित्तक उपयोगों के साथ मिथ्यात्व-निमित्तक उपयोग तथा केवलद्विक के साथ अन्य कोई उपयोग नहीं होते हैं किन्तु अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन के साथ उभयनिमित्तक (सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक) उपयोग होते ही हैं।

विशेषार्थ—गाथा में सहभावी उपयोगों के कारण को स्पष्ट किया है।

सम्यक्त्व निमित्त-कारण है जिनका ऐसे मतिज्ञान आदि उपयोगों के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक मति-अज्ञान आदि उपयोग नहीं होते हैं तथा 'केवलदुगेण सेसा न होंति उवओगा' केवलद्विक—केवलज्ञान, केवल-दर्शन के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक उपयोग तो हो ही नहीं सकते, किन्तु सम्यक्त्वनिमित्तकों में से भी छाद्मस्थिक मतिज्ञान आदि कोई भी उपयोग नहीं होते हैं। क्योंकि देशज्ञान और देशदर्शन का विच्छेद होने पर ही पूर्ण—केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा—

उप्पन्नंमि अणंते नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे।[1]

अर्थात्—छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शनों के नष्ट होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन—केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं।

छाद्मस्थिक ज्ञान-दर्शनों के नाश के पश्चात् केवल ज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति होने को लेकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

प्रश्न—मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन अपने-अपने आवरणों के यथायोग्य रीति से क्षयोपशम होने पर उत्पन्न होते हैं। अतः जब पूर्ण रूप से उनके आवरणों का क्षय हो तब चारित्रपरिणाम की तरह उनको भी पूर्ण रूप से उत्पन्न होना चाहिए, तो फिर केवल-

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति ५३९

ज्ञान, और केवलदर्शन के होने पर मतिज्ञानादि का अभाव क्यों माना है ? जैसे चारित्रावरणीय का क्षयोपशम होने से सामायिक आदि चारित्र उत्पन्न होते हैं और चारित्रावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर यथाख्यातचारित्र उत्पन्न होता है, परन्तु उसकी उत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदि चारित्रों का नाश नहीं होता है, इसी प्रकार केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी मतिज्ञानादि का नाश नहीं होना चाहिए।

उत्तर—केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर मतिज्ञानादि के नाश मानने का कारण यह है कि जैसे सूर्य के सामने गाढ़ बादलों का समूह आया हो तब भी इतना प्रकाश तो रहता ही है कि दिन और रात्रि का स्पष्ट विभाग मालूम हो सके तथा उस प्रकाश के सामने यदि चटाई की झोपड़ी हो तो उसके छिद्रों में से छेदों के अनुरूप आया हुआ प्रकाश झोपड़ी में विद्यमान घट-पटादि पदार्थों को दिखाता है। किन्तु वह प्रकाश उस झोपड़ी का अपना नहीं है, बाहर में विद्यमान सूर्य का है। अब यदि उस झोपड़ी को नष्ट कर दें और बादलों के हट जाने पर सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाये तो वह घट-पटादि पदार्थों को पूर्णरूपेण प्रकाशित करता है।

इसी प्रकार गाढ़ केवलज्ञानावरण रूप बादलों से केवलज्ञान रूप सूर्य के आवृत्त होने पर भी जड़-चेतन का स्पष्ट विभाग मालूम हो, ज्ञान का इतना प्रकाश तो उद्घाटित रहता ही है। उस प्रकाश को मतिज्ञानावरणादि आवरण आच्छादित करते हैं। उनके क्षयोपशम रूप यथायोग्य विवर-छिद्रों में से निकला हुआ प्रकाश जीवादि पदार्थों का यथायोग्य रीति से बोध कराता है और क्षयोपशम के अनुरूप मतिज्ञान आदि का नाम धारण करता है।

यहाँ चटाई की झोपड़ी के छेदों में से आये हुए प्रकाश के सदृश मतिज्ञानावरणादि के क्षयोपशम रूप विवरों में से आगत प्रकाश केवलज्ञान का ही है। अब यदि उन मतिज्ञानावरणादि आवरण रूप झोपड़ी

और केवलज्ञानावरण रूप सघन बादलों का सर्वथा नाश हो जाए तो पूर्ण सूर्य के प्रकाश की तरह वह पूर्ण केवलज्ञान का ही प्रकाश प्रकाशमान होता है न कि मतिज्ञान आदि के नाम से कहे जाने वाले केवलज्ञान का। क्योंकि क्षयोपशम के अनुरूप जिस प्रकाश को पहले मतिज्ञान आदि के नाम से कहा जाता था वह केवलज्ञान का ही प्रकाश था। केवलज्ञानावरणीय कर्म का उदय और मतिज्ञानावरणादि का क्षयोपशम था, उससे जो अपूर्ण प्रकाश था वह आवरणों के सर्वथा दूर हो जाने से पूर्ण प्रकाश में समाविष्ट हो गया और मतिज्ञान आदि नाम भी नष्ट हो गए। अतएव यह समझना चाहिए कि केवलज्ञान के होने पर मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक उपयोग नहीं होते है—केवलदुगेण सेसा न होंति उवओगा।

केवलद्विक के साथ अन्य उपयोग न होने के विषय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का दृष्टिकोण है कि सूर्योदय के होने पर यद्यपि ग्रह, नक्षत्र आदि सभी विद्यमान रहते हैं लेकिन निष्फल होने से उनकी विवक्षा नहीं की जाती है, उसी प्रकार केवलज्ञान होने पर सयोगि आदि गुणस्थानों में मतिज्ञान आदि ज्ञानों के रहने पर भी निष्फल होने से उनकी विवक्षा नहीं की जाती है।[1]

इस प्रकार से केवलद्विक उपयोगों के साथ अन्य उपयोगों के न होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब यह बताते हैं कि यद्यपि सम्यक्त्वभावी उपयोगों के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक और मिथ्यात्वभावी उपयोगों के साथ सम्यक्त्वनिमित्तक छाद्मस्थिक उपयोग नहीं होते हैं। लेकिन इस नियम का यह अपवाद है—

---

१ यहाँ विवक्षा न करने का कारण यह है कि जब पूर्ण ज्ञान हो तब अपूर्ण ज्ञान निष्क्रिय है। परन्तु यह आचार्य प्रत्येक ज्ञान और उसके आवरणों को अलग-अलग मानें तभी यह कहा जा सकता है कि ज्ञानावरण का सर्वथा नाश होने से मतिज्ञानादि ज्ञान हैं—इस तरह ज्ञानों का सद्भाव →

'संतेव अचक्खुचक्खूसु' अर्थात् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और 'चक्खूसु' शब्द में बहुवचन के निर्देश द्वारा अवधिदर्शन का भी ग्रहण करने से इन तीनों दर्शनों के साथ सम्यक्त्वनिमित्तक और मिथ्यात्व-निमित्तक दोनों प्रकार के उपयोग होते हैं।[1]

उपर्युक्त नियमों के अनुसार अब शेष रहे मार्गणास्थानों में उपयोगों को बतलाते हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञान, सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय चारित्र, क्षयोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व इन दस मार्गणाओं में केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के सिवाय शेष सात उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि ये मार्गणायें चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानों में पाई जाती हैं। इसलिये इन मार्गणाओं में मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन अज्ञान – मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान नहीं होते हैं तथा इनमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं। अतः क्षायिक भाव रूप केवलद्विक – केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दो उपयोग संभव नहीं हैं। इसीलिए अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पांच उपयोगों के सिवाय तीन दर्शन – चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन तथा चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यायज्ञान कुल सात उपयोग पाये जाते हैं।

बता सकते हैं। लेकिन पूर्व की तरह मतिज्ञानादि का कारण केवलज्ञानावरण मानें तो उस कारण के नष्ट होने से अनावृतप्रकाश में पहले का प्रकाश समा जाता है, यानी मतिज्ञानादि ज्ञान हो ही नहीं सकते हैं। इसलिए अन्य आचार्यों के मत से पांच ज्ञान और उनके आवरण भिन्न-भिन्न हैं यह समझना चाहिये।

२ चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन में सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक सभी उपयोग होने का कथन सामान्य से समझना चाहिये। केवलद्विक उपयोग इनमें नहीं होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है :

अज्ञानत्रिक, अभव्य, सासादन और मिथ्यात्व इन छह मार्गणाओं में केवलद्विक और मतिज्ञानादि चार ज्ञानों के सिवाय शेष तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि प्रथम तीन दर्शन कुल छह उपयोग होते हैं।[1]

लेकिन मात्र कार्मग्रंथिक मतानुसार इन छह मार्गणाओं में उपयोगों का निर्देश इस प्रकार जानना चाहिए कि मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पांच उपयोग होते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणा में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। इसका कारण गाथा में स्पष्ट किया जा चुका है कि 'केवलदुगेण सेसा न होंति उवओगा'—केवली के छद्मों का क्षय हो जाने से छद्मसहचारी मतिज्ञान आदि दस उपयोग संभव नहीं हैं।

चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन इन तीन दर्शनमार्गणाओं में केवलद्विक से हीन शेष दस उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि यह तीनों दर्शन बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं और ये सभी गुणस्थान छाद्मस्थिक अवस्थाभावी हैं। अतः क्षायिकभावरूप केवलद्विक उपयोग नहीं होते हैं, जिससे शेष दस उपयोग माने जाते हैं।

अनाहारकमार्गणा में मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं। क्योंकि ये उपयोगद्वय पर्याप्त अवस्थाभावी

---

१ यह कथन कार्मग्रंथिक और सैद्धान्तिक दोनों अपेक्षाओं का समन्वय करके किया है। क्योंकि कार्मग्रंथिक पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान मानते हैं और सैद्धान्तिक विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन मानते हैं तथा सासादन-गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से अज्ञान न मानकर ज्ञान मानते हैं। यहाँ जो अज्ञानत्रिक आदि छह मार्गणाओं में अवधिदर्शन माना उसमें सैद्धान्तिक अपेक्षा और सासादन में अज्ञान माना उसमें कार्मग्रंथिक अपेक्षा है।

होने से अनाहारकमार्गणा में नहीं होते। अनाहारक दशा विग्रहगति तथा केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अथवा मोक्ष में होती है।

अतः इन दोनों में पृथक्-पृथक् रूप से उपयोगों का विचार किया जाये तो विग्रहगति में आठ उपयोग होते हैं— भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वी की अपेक्षा तीन ज्ञान, मिथ्यात्वी की अपेक्षा तीन अज्ञान तथा सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी दोनों की अपेक्षा अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन तथा केवलीसमुद्घात और मोक्ष में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। इस प्रकार विग्रहगति सम्बन्धी आठ और केवलीसमुद्घात व मोक्ष में पाये जाने वाले दो उपयोगों को मिलाने से अनाहारकमार्गणा में दस उपयोग होते हैं।

देशविरतिमार्गणा में सम्यक्त्वनिमित्तक आदि के तीन दर्शन— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और आदि के तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान सब मिलाकर छह उपयोग होते हैं तथा तीन अज्ञान और मनपर्यायज्ञान तथा केवलद्विक यह छह उपयोग नहीं होते हैं।

इन छह उपयोगों के न होने का कारण यह है कि देशविरति में मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यात्वसहभावी अज्ञानत्रिक तथा एकदेश तथा आंशिक संयम का आचरण होने से सर्वविरतिसापेक्ष मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक यह तीनों उपयोग नहीं होते हैं। इसी कारण देशविरति में आदि के तीन ज्ञान और तीन दर्शन यह छह उपयोग माने जाते हैं। अवधिद्विक को ग्रहण करने का कारण यह है कि श्रावकों में अवधि उपयोग पाये जाने का वर्णन आगमों में आया है।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणा में भी देशविरति की तरह दर्शनत्रिक

और ज्ञानत्रिक कुल मिलाकर छह उपयोग पाये जाते हैं। लेकिन देशविरति की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि वे अज्ञान से मिश्रित होते हैं। अर्थात् मतिज्ञान मति-अज्ञान से, श्रुतज्ञान श्रुत-अज्ञान से, अवधिज्ञान अवधि-अज्ञान (विभंगज्ञान) से मिश्रित होते हैं। इस मिश्रता का कारण यह है कि यहाँ अर्धविशुद्ध दर्शनमोहनीय पुंज का उदय होने से परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध यानी मिश्ररूप होते हैं। शुद्धि की अपेक्षा मति आदि को ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षा अज्ञान माना जाता है[1] तथा अविरतिमार्गणा में आदि के तीन ज्ञान, तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन कुल नौ उपयोग होते हैं।

लेकिन पृथक्-पृथक् सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की अपेक्षा अविरतिमार्गणा में उपयोग का विचार करें तो सम्यग्दृष्टि अविरतियों को मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन यह छह उपयोग होंगे तथा मिथ्यात्वी अविरतियों में मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान और चक्षु, अचक्षुदर्शन कुल पांच उपयोग माने जायेंगे।

इस प्रकार से मार्गणाओं में उपयोग का विचार जानना चाहिये।[2] सरलता से समझने के लिये मार्गणाओं में संभव योग और उपयोगों का प्रारूप इस प्रकार है—

---

१ मिश्रगुणस्थान में अवधिदर्शन का विचार करने वाले कार्मग्रंथिक दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है और द्वितीय पक्ष तीसरे गुणस्थान में भी अवधिदर्शन। यहाँ द्वितीय पक्ष को लेकर मिश्रदृष्टि के उपयोगों में अवधिदर्शन को ग्रहण किया है।

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य में आगत मार्गणाओं में उपयोग-विचार को परिशिष्ट में देखिये।

क्र० सं०	मार्गणा नाम	योगों की संख्या और नाम	उपयोगों की संख्या व नाम
	१—गतिमार्गणा		
१	१ नरकगति	११ औदारिकद्विक और आहारकद्विक के सिवाय	६ मनपर्यायज्ञान, केवलद्विक के सिवाय
२	२ तिर्यंचगति	१३ आहारकद्विक के सिवाय	६ मनपर्यायज्ञान, केवलद्विक के सिवाय
३	३ मनुष्यगति	१५ मन, वचन, काय योग के सभी भेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
४	४ देवगति	११ नरकगतिवत्	६ नरकगतिवत्
	२—इन्द्रियमार्गणा		
५	१ एकेन्द्रिय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक	३ मति-श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन
६	२ द्वीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषाभाषा	३ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन
७	३ त्रीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषाभाषा	३ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन

८	चतुरिन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषाभाषा	४ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षु-दर्शन आदि दो दर्शन	
९	५ पंचेन्द्रिय	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ दर्शन)	

३–कायमार्गणा

१०	१ पृथ्वीकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक	३ एकेन्द्रियवत्	
११	२ जलकाय	३ ,, ,,	३ ,, ,,	
१२	३ तेजस्काय	३ ,, ,,	३ ,, ,,	
१३	४ वायुकाय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक	३ ,, ,,	
१४	५ वनस्पतिकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक	३ ,, ,,	
१५	६ त्रसकाय	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)	

४–योगमार्गणा

१६	१ मनोयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)	
१७	२ वचनयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)	
१८	३ काययोग	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ दर्शन)	

५–वेदमार्गणा

१९	१ पुरुषवेद	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ मनोयोगवत्
२०	२ स्त्रीवेद	१३ तिर्यंचगतिवत्	१२ ,,
२१	३ नपुंसकवेद	१५ मनुष्यगतिवत्	१३ ,,

६–कषायमार्गणा

२२	१ क्रोध	१५ मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
२३	२ मान	१५ ,, ,,	१० ,, ,,
२४	३ माया	१५ ,, ,,	१० ,, ,,
२५	४ लोभ	१५ ,, ,,	१० ,, ,,

७–ज्ञानमार्गणा

२६	१ मतिज्ञान	१५ मनुष्यगतिवत्	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२७	२ श्रुतज्ञान	१५ मनुष्यगतिवत्	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२८	३ अवधिज्ञान	१५ मनुष्यगतिवत्	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२९	४ मनपर्याय-ज्ञान	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात

३०	५ केवलज्ञान	७ औदारिकद्विक, कार्मण, सत्य, असत्यामृषा मनोयोग व वचनयोग	२ केवलज्ञान, केवलदर्शन	
३१	६ मति-अज्ञान	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन	
३२	७ श्रुत-अज्ञान	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन	
३३	८ विभंगज्ञान	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन	

८-संयममार्गणा

३४	१ सामायिक	१३ कार्मण, औदारिकमिश्र के सिवाय	७ मतिज्ञानवत्	
३५	२ छेदोपस्थापना	१३ ,, ,,	७ ,,	
३६	३ परिहार-विशुद्धि	९ मनोयोग ४ वचनयोग ४ औदारिक	७ ,,	
३७	४ सूक्ष्मसंपराय	९ कार्मण, औदा० मिश्र, वैक्रियद्विक आहारकद्विक के बिना	७ ,,	

३८	५ यथाख्यात	११	मनोयोग ४, वचनयोग ४, कार्मण, औदारिकद्विक	६ मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन
३९	६ देशविरति	११	मनोयोग ४ वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियद्विक	६ आदि के तीन दर्शन, आदि के तीन ज्ञान
४०	७ अविरति	१३	तिर्यंचगतिवत्	६ आदि के तीन ज्ञान, तीन अज्ञान, आदि के तीन दर्शन

९–दर्शनमार्गणा

४१	१ चक्षुदर्शन	११	कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र के सिवाय	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४२	२ अचक्षुदर्शन	१५	मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४३	३ अवधिदर्शन	१५	मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४४	४ केवलदर्शन	७	केवलज्ञानवत्	२ केवलज्ञान, केवलदर्शन

१०–लेश्यामार्गणा

४५	१ कृष्णलेश्या	१५	मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४६	२ नीललेश्या	१५	,,	,, ,,
४७	३ कापोतलेश्या	१५	,,	,, ,,
४८	४ तेजोलेश्या	१५	,,	,, ,,
४९	५ पद्मलेश्या	१५	,,	,, ,,
५०	६ शुक्ललेश्या	१५	,,	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)

११–भव्यमार्गणा

५१	१ भव्यत्व	१५	मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ,४ दर्शन)
५२	२ अभव्य	१३	तिर्यंचगतिवत्	६ अज्ञानत्रिक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

१२–सम्यक्त्वमार्गणा

५३	१ औपश-मिक	१३	तिर्यंचगतिवत्	७ मतिज्ञानवत्
५४	२ क्षायोप.	१५	मनुष्यगतिवत्	७ मतिज्ञानवत्
५५	३ क्षायिक	१५	मनुष्यगतिवत्	९ मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन
५६	४ सासादन	१३	तिर्यंचगतिवत्	६ अज्ञानत्रिक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

५७	५ मिश्र	१० मनोयोग ४ वचन- योग ४, औदारिक, वैक्रिय	६ आदि के तीन ज्ञान और दर्शन अज्ञानमिश्रित	
५८	६ मिथ्यात्व	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ अज्ञानत्रिक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन	

१३–संज्ञीमार्गणा

५९	१ संज्ञित्व	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)	
६०	२ असंज्ञित्व	६ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, असत्यामृषावचनयोग	४ मति-श्रुत अज्ञान, चक्षु, अचक्षुदर्शन	

१४–आहारमार्गणा

६१	१ आहारकत्व	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)	
६२	२ अनाहारकत्व	१ कार्मणकाययोग	१० मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन के सिवाय शेष दस	
विशेष				
		असंज्ञी पंचेन्द्रिय	४ मति-श्रुत अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन	

गुणस्थानों में योग-विचारणा

जीवस्थानों और मार्गणास्थानों में योगों और उपयोगों का विस्तार से निरूपण करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त गुणस्थानों में उनका कथन करते हैं। लेकिन पूर्व में जैसे सर्वत्र पहले योगों का और उसके पश्चात् उपयोगों का विधान किया है, उसी प्रकार यहाँ भी पहले गुणस्थानों में योगों को बतलाते हैं—

जोगाहारदुगूणा मिच्छे सासायणे अविरए य।
अपुव्वाइसु पंचसु नव ओरालो मणवई य ॥१६॥
वेउव्विणाजुया ते मीसे साहारगेण अपमत्ते।
देसे दुविउव्विजुया आहारदुगेण य पमत्ते ॥१७॥
अज्जोगो अज्जोगी सत्त सजोगंमि होंति जोगा उ।
दो दो मणवइजोगा उरालदुगं सकम्मइगं ॥१८॥

शब्दार्थ—**जोगा**—योग, **आहारदुगूणा**—आहारकद्विक से न्यून (रहित), **मिच्छे**—मिथ्यात्व में, **सासायणे**—सासादन में, **अविरए**—अविरतसम्यग्दृष्टि में, **य**—और, **अपुव्वाइसु पंचसु**—अपूर्वकरणादि पांच में, **नव**—नौ, **ओरालो**—औदारिक, **मणवई**—मन और वचन योग, **य**—और।

वेउव्विणा—वैक्रिययोग से, **जुया**—सहित, **ते**—वे, **मीसे**—मिश्रगुणस्थान में, **साहारगेण**—आहारकसहित, **अपमत्ते**—अप्रमत्त में, **देसे**—देशविरत में, **दुविउव्विजुया**—वैक्रियद्विकसहित, **आहारदुगेण**—आहारकद्विक से, **य**—और **पमत्ते**—प्रमत्तविरतगुणस्थान में।

अज्जोगो—योगरहित, **अज्जोगी**—अयोगिगुणस्थान, **सजोगंमि**—सयोगि में, **होंति**—होते हैं, **जोगा**—योग, **उ**—तथा, **दो-दो**—दो, दो, **मणवइजोगा**—मनोयोग और वचनयोग, **उरालदुगं**—औदारिकद्विक, **सकम्मइगं**—कार्मण-योग सहित।

गाथार्थ—मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आहारकद्विक रहित तेरह योग होते हैं। अपूर्वक-

रणादि पांच गुणस्थानों से मन और वचन योग के चार-चार और औदारिक इस प्रकार नौ योग होते हैं।

मिश्रगुणस्थान में वैक्रिययोग सहित दस, अप्रमत्तविरत-गुणस्थान में आहारक सहित ग्यारह, देशविरत में वैक्रियद्विक सहित ग्यारह और प्रमत्तविरत में आहारकद्विक सहित तेरह योग होते हैं।

अयोगिकेवलीगुणस्थान योगरहित है और सयोगिकेवली-गुणस्थान में मन और वचन के दो-दो, औदारिकद्विक और कार्मण ये सात योग होते हैं।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में गुणस्थानों में योगों की संख्या बतलाई है कि प्रत्येक गुणस्थान में कितने और कौन-कौन से योग सम्भव हैं। योग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदों के क्रमशः चार, चार और सात भेदों के नाम तो पूर्व में कहे जा चुके हैं और यहाँ प्रारम्भ में गुणस्थानों के भेद, नाम व लक्षण न बताकर बंधकद्वार गाथा ८३ में बताये हैं। लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से गुणस्थानों में योगों का निर्देश करने के पूर्व गुणस्थानों के भेद आदि जान लेना आवश्यक होने से पहले उनके भेद, नाम और लक्षण कहते हैं।

गुणस्थानों के भेद[1]

गुणस्थान का लक्षण पूर्व में बताया जा चुका है कि सामान्य से चतुर्गति रूप संसार में विद्यमान सभी जीवों के गुणों में न्यूनाधिकता नहीं है। गुणों की दृष्टि से सभी आत्मायें समान हैं। लेकिन संसारी आत्माओं के गुण आवरक कर्मों द्वारा आच्छादित हैं, उन आवरक कर्मों

---

१ गुणस्थान के भेद, लक्षण आदि का विस्तार से विचार द्वितीय कर्मग्रंथ में किया है। उसी का संक्षिप्त सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

की आच्छादन शक्ति के तारतम्य एवं अल्पाधिक तथा समग्र रूपेण दूर होने पर प्रगट हुए ज्ञानादि गुणों के स्थान—भेद, स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा जाता है। आत्मगुणों में शुद्धि के अपकर्ष और अशुद्धि के उत्कर्ष के कारण आस्रव और बंध हैं एवं अशुद्धि के अपकर्ष और शुद्धि के उत्कर्ष के हेतु संवर और निर्जरा हैं। आस्रव के द्वारा कर्मावरण के आने और बंध के कारण दूध-पानी अथवा अग्नि-लोहपिण्डवत् आत्मा के साथ संबंध होते जाने से आत्मगुणों पर आवरण गाढ़ा होता जाता है। जिससे अशुद्धि का उत्कर्ष होता है। लेकिन संवर के द्वारा नवीन कर्ममल के आगमन का निरोध होने तथा निर्जरा द्वारा पूर्वसंबद्ध मल का क्षय होते जाने से गुणों की शुद्धि में उत्कर्षता और अशुद्धि में अपकर्षता अथवा न्यूनता आती जाती है। जिससे जीवों की पारिणामिक शुद्धि और गुणों में उत्तरोत्तर अधिकता, वृद्धि और विकास होता जाता है। आत्मगुणों के इसी विकासक्रम को गुणस्थान कहते हैं।[1]

---

१ तत्र गुणाः ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इतिकृत्वा यथाऽध्यवसायस्थानमितिगुणानां स्थानं गुणस्थानमिति।

—कर्मस्तव, गोविन्दगणिवृत्ति पृ. २

दिगम्बर कर्मग्रंथों में गुणस्थान का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं॥

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं, उन जीवों को सर्वज्ञ ने उसी गुणस्थान वाला और उन भावों (परिणामों) को गुणस्थान कहा है।

—गोम्मटसार जीवकांड ८

कर्ममल के आगमन का द्वार योग है और आत्मगुणों के विकास का प्रबल अवरोधक मोहकर्म है। जब तक मोहकर्म की दर्शन और चारित्र अवरोधक दोनों शक्तियां प्रबल रहती हैं, तब तक कर्मों का आवरण सघन रहता है और उसके कारण आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रगट नहीं हो पाता है। लेकिन आवरणों के क्षीण, निर्जीण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप व्यक्त होता है। परम स्वरूप-बोध और स्वरूप-रमणता ही जीव का लक्ष्य है और इसी में सफलता प्राप्त करना उसके परम पुरुषार्थ की चरम परिणति है।

आगमों में जीवों के स्वरूपविशेषों, भावात्मक परिणतियों—भेदों का विचार विस्तार से किया है। लेकिन उनमें गुणस्थान शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता है, प्रत्युत जीवस्थान शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया है और जीवस्थान की रचना का आधार गुणस्थान की तरह कर्मविशुद्धि बताया है।[1] अतः यही मानना चाहिए कि आगमगत जीवस्थान पद के लिए आगमोत्तर कालीन ग्रंथों और कर्मग्रंथों में प्रयुक्त गुणस्थान पद में गुण शब्द की मुख्यता के अतिरिक्त आशय में अन्तर नहीं है। शाब्दिक भेद होने पर भी दोनों समानार्थक हैं।

संसार में जीव अनन्त हैं। कतिपय अंशों में बाह्य शरीर, इन्द्रिय, गति आदि की अपेक्षा समानता जैसी दिखती है, फिर भी प्रत्येक जीव एक जैसा नहीं है। इसीलिए शास्त्रों में इन्द्रिय, वेद, ज्ञान, उपयोग, लक्षण आदि विभागों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से उनके भेद बताकर वर्ग बनाये हैं और ऐसा दिखता भी है। लेकिन बाह्य की अपेक्षा आंतरिक ज्ञानादि गुणों के स्वरूप की विशेषतायें तो असंख्य प्रकार

---

१ कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता.....

—समवायांग १४/५

की हैं। अतः इन असंख्य प्रकारों का सरलता से बोध कराने और उनकी मुख्य विशेषता को बताने के लिए उन असंख्य ज्ञानादि गुणों के स्वरूपविशेषों को एक-एक वर्ग में गर्भित करके गुणस्थान के चौदह भेदों की व्यवस्था की है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि), (४) अविरतसम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरतसंयत, (७) अप्रमत्तसंयत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिबादरसंपराय, (१०) सूक्ष्मसंपराय, (११) उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ, (१२) क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, (१३) सयोगिकेवली, (१४) अयोगिकेवली।[1] इनमें प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ लेना चाहिए। जैसे मिथ्यात्वगुणस्थान इत्यादि।

गुणस्थानों के इस क्रम में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थान में आवरक कर्मों की सघनता होने से अशुद्धि की प्रकर्षतम स्थिति है और अंतिम चौदहवें गुणस्थान में शुद्धि के परम प्रकर्ष और आत्मरणता के दर्शन होते हैं। जबकि मध्य के भेदों में आध्यात्मिक विकास की धारा को देखते हैं। पूर्व-पूर्व गुणस्थान से उत्तर-उत्तर के गुणस्थान में अपेक्षाकृत शुद्धि अधिक होने से ज्ञानादि गुण अधिक प्रमाण में शुद्ध, प्रगट होते जाते हैं और अंत में जीवमात्र के लिए प्राप्तव्य परमशुद्ध प्रकाशमान आत्मरमणरूप परमात्मभाव प्राप्त हो जाता है। यही बताना गुणस्थान-क्रमविधान का उद्देश्य है।

इस क्रमविधान में संसारी जीवों की सभी मुख्य विशेषताओं के साथ सहभावी अन्य विशेषताओं का समावेश हो जाता है। ऐसा

---

१ गो० जीवकांड गा० ३ और १० तथा षट्खंडागम धवलावृत्ति प्र० खं० पृ० १६०-६१

कोई जीव शेष नहीं रहता है कि उसकी विशेषताओं का किसी न किसी वर्ग में ग्रहण न हो जाये। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि से सामान्यतया जीवों के दो प्रकार हैं– (१) मिथ्यात्वी (मिथ्यादृष्टि) और (२) सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि), अर्थात् कितने ही जीव गाढ़ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले एवं तदनुकूल आचरण करने वाले हैं और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ एवं आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यतीत करने वाले हैं।

इनमें से अज्ञानी, विपरीत बुद्धि वाले जीवों का बोध कराने वाला पहला मिथ्यात्वगुणस्थान है और सम्यग्दृष्टि जीवों के तीन रूप हैं— (१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्ध सम्यक्त्व और अर्ध मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र और (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्ररहित। इन तीनों में से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरा सासादनगुणस्थान, मिश्रदृष्टि वालों के लिए तीसरा मिश्रगुणस्थान और चारित्रहीन विशुद्ध सम्यक्त्वी जीवों के लिए चौथा अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

यह कथन तो हुआ मिथ्यात्वी और सामान्य सम्यक्त्वी जीवों की अपेक्षा से। लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित हैं, उनके भी चारित्र की अपेक्षा दो प्रकार हैं—(१) एकदेश (आंशिक) चारित्र पालन करने वाले और (२) सम्पूर्ण चारित्र पालन करने वाले। ये सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले भी दो प्रकार के हैं—(१) प्रमादवश अतिचार, दोष लगाने वाले और (२) प्रमाद न रहने से निरतिचार चारित्र का पालन करने वाले। एकदेश चारित्र का पालन करने वालों का दर्शक पांचवां—देशविरतगुणस्थान है। प्रमादवश संपूर्ण चारित्र के पालन में अतिचार लगाने वाले प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान वाले और निरतिचार—निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले सातवें—अप्रमत्तसंयतगुणस्थान वाले हैं।

यद्यपि अप्रमत्तसंयतदशापन्न जीव वीतरागदशा, स्वरूपरमणता प्राप्त करने की ओर उन्मुख हो जाते हैं तथापि छद्मस्थ-कर्मावृत हैं। जिससे पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करने में व्यवधान आता है। कर्म और आत्मशक्ति के बीच अपनी-अपनी प्रबलता के परीक्षण का एक ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है कि जो जय-पराजय का निर्णायक होता है। अतः कितने ही अप्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव आत्मशक्ति की प्रबलता से संगठित कर्मशक्ति का छेदन-भेदन करने के लिए तत्पर हो जाते हैं और इसके लिए श्रेणिक्रम पर आरोहण करते हैं। जिसमें कर्मों की स्थिति, विपाकशक्ति को अधिक से अधिक निष्क्रिय, निर्बल बनाते हैं। जिससे पारिणामिक शुद्धि पूर्व की अपेक्षा विशेष-विशेष बढ़ती जाती है। अर्थात् परिणाम शुद्ध-शुद्धतर होते जाते हैं। यह पारिणामिक शुद्धि प्रतिसमय अपूर्व ही होती है। इस दशा में वर्तमान जीवों का दर्शक आठवां अपूर्वकरणगुणस्थान है।

यद्यपि श्रेणी के आरोहण के कारण काषायिक भावों में काफी निर्बलता आ जाती है और क्रमिक विशुद्धता भी बढ़ती जाती है, तथापि उन कषायों में उद्रेक की शक्ति बनी रहती है। अतः ऐसे जीवों का बोधक अनिवृत्तिबादरसंपराय नामक नौवां गुणस्थान है। इस गुणस्थान में भी कषायों को कृश करने का क्रम तो पूर्ववत् चलता रहता है, जिससे अंत में एक ऐसी स्थिति आती है कि उन कषायों की झांई मात्र जैसी स्थिति रह जाती है। इस स्थिति वाले जीवों को बताने वाला दसवां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान है।

किसी भी वस्तु के इस प्रकार की स्थिति बनने पर दो रूप बन सकते हैं कि या तो वह नष्ट हो जाये अथवा तिरोहित हो जाये। कषायों के लिए भी यही समझना चाहिए। दोनों ही स्थितियों में जीव को अपने निर्मल स्वभाव के दर्शन होंगे। तिरोहित, शांत स्थिति को बताने वाला ग्यारहवां उपशांतमोहवीतरागछद्मस्थगुणस्थान

है और नष्ट अवस्था का दर्शक क्षीणमोहवीतरागछद्मस्थ नामक बारहवां गुणस्थान है। उपशांत कषायों का उदय संभव है, किन्तु नष्ट होने पर आत्मा को पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त करने में कोई अवरोधक कारण नहीं रहता है।

कषाय (मोहनीयकर्म) के क्षय के साथ और भी दूसरे ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि आत्मगुणों के आच्छादक कर्मों का क्षय हो जाता है, लेकिन अभी भी शरीरादि योगों का सम्बन्ध बना रहने से वह योगयुक्त वीतराग जीव सयोगिकेवली नामक तेरहवां गुणस्थानवर्ती कहलाता है और जब इन शारीरिक योगों का भी वियोग, क्षय हो जाता है तो ज्ञान-दर्शन आदि आत्मरमणतारूप स्थिति बन जाती है। जिसका दर्शक चौदहवां गुणस्थान अयोगिकेवली है।

इन चौदह गुणस्थानों में आदि के चार गुणस्थानों में दर्शन-मोह—स्वरूपबोध आच्छादक कर्म की और उनसे ऊपर चारित्रमोह—स्वरूप-लाभ आवरक कर्म की अपेक्षा है और अंतिम तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान योगसापेक्ष हैं।

इस प्रकार ये चौदह गुणस्थान स्व गंतव्य और प्राप्तव्य की ओर अग्रसर आत्मा के विकासदर्शक सोपान हैं।

यद्यपि गुणस्थानक्रमारोहण की इस संक्षिप्त झांकी में गुणस्थानों की स्वरूपव्याख्या का पूर्वाभास हो जाता है, तथापि प्रत्येक गुण-स्थान का कुछ विशेषता के साथ लक्षण समझने के लिए अब संक्षेप में मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों का स्वरूप बतलाते हैं।

१. **मिथ्यात्वगुणस्थान**—जीव-अजीव आदि तत्त्वों की मिथ्या-विपरीत है दृष्टि, श्रद्धा जिसकी उस जीव को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति ने धतूरा खाया हो तो उसको सफेद वस्तु भी पीली दिखती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि विपरीत हो, जीव-अजीव आदि के स्वरूप की

यथार्थ प्रतीति नहीं हो, उस आत्मा को मिथ्यादृष्टि और उसके ज्ञानादि गुणों के स्वरूपविशेष को मिथ्यादृष्टिगुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न—यदि आत्मा मिथ्यादृष्टि-विपरीतदृष्टि वाला है तो उसे गुणस्थान कैसे कह सकते हैं। क्योंकि गुण तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप हैं। जब विपरीत प्रतीति, श्रद्धा हो तब वे गुण कैसे हो सकते हैं। अर्थात् ज्ञानादि गुण जब मिथ्यात्वमोह के उदय से दूषित हों तब उन दूषित गुणों को गुणस्थान कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—यद्यपि तत्त्वार्थ की श्रद्धा रूप आत्मा के गुण को सर्वथा आच्छादित करने वाले प्रबल मिथ्यात्वमोहनीय के विपाकोदय से प्राणियों की जीव-अजीव आदि वस्तुओं की प्रतीति रूप तात्त्विक श्रद्धा विपरीत होती है, तथापि प्रत्येक प्राणी में यह मनुष्य है, यह पशु है, इत्यादि रूप से कुछ प्रतीति होती है। इतना ही क्यों, निगोदावस्था में भी यह उष्ण है, यह शीत है, इस प्रकार की स्पर्शनेन्द्रिय के विषय की प्रतीति (ज्ञान) अविपरीत होती है। जैसे कि अति सघन बादलों से चन्द्र और सूर्य की प्रभा के आच्छादित होने पर भी संपूर्णतया उसकी प्रभा का नाश नहीं होता है, आंशिक रूप से खुली रहती है, जिससे दिन-रात का विभाग किया सके। यदि वह अंश भी खुला न रहे तो प्राणिमात्र में प्रसिद्ध दिन-रात का भेद ही नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रबल मिथ्यात्वमोह के उदय से सम्यक्त्व रूप आत्मा का स्वरूप आच्छादित रहने पर भी उसका कुछ न कुछ अंश अनावृत रहता है। जिसके द्वारा मनुष्य और पशु आदि विषयों की अविपरीत प्रतीति प्रत्येक आत्मा को होती है। इस अंश गुण की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि को गुणस्थान माना जाता है।

प्रश्न—अंशगुण की अपेक्षा जब मिथ्यादृष्टि को गुणस्थान माना जाता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या आपत्ति है ?

क्योंकि मनुष्य, पशु आदि विषयक प्रतीति, श्रद्धा की अपेक्षा और अंत में निगोदावस्था में भी तथाप्रकार के स्पर्श की अव्यक्त प्रतीति की अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा में सम्यग्दृष्टित्व माना जा सकता है। अतएव आंशिक गुण की अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा को सम्यग्दृष्टि कहना चाहिये, मिथ्यादृष्टि नहीं।

उत्तर—यह ठीक है कि किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि यथार्थ है, किन्तु इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कह सकते हैं। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि द्वादशांग के अर्थ को मानने पर भी सूत्रोक्त एक अक्षर की जो श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास नहीं करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अतः यदि सूत्र ही प्रमाण नहीं तो भगवान अरिहंत-भाषित जीव-अजीव आदि वस्तुविषयक यथार्थ तत्त्वनिर्णय कैसे हो सकता है? लेकिन सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि उसे सर्वज्ञकथन पर अखण्ड विश्वास होता है, किन्तु मिथ्यात्वी को नहीं होता है। इसीलिये मिथ्यात्वी को सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न—अरिहन्त-भाषित सिद्धान्त के अर्थ को मानने पर भी तद्गत एक अक्षर को न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु न्याय से तो उसे मिश्रदृष्टि कहना चाहिये। क्योंकि वह भगवान अरिहंतभाषित संपूर्ण अर्थ को मानता है, मात्र कुछ एक अर्थ को नहीं मानता है। अतः श्रद्धा-अश्रद्धा की मिश्रता होने से मिश्रदृष्टि कहना चाहिए, न कि मिथ्यादृष्टि।

उत्तर—श्रद्धा-अश्रद्धा की मिश्रता से मिश्रदृष्टि कहना चाहिये, मिथ्यादृष्टि नहीं, यह कथन वस्तुस्वरूप का अज्ञान होने से असत् है। क्योंकि वीतरागभाषित जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों को जिन-प्रणीत होने से यथार्थरूप से श्रद्धा करे तब वह सम्यग्दृष्टि है, लेकिन जब जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों को अथवा उसके अमुक अंश की

भी अयथार्थ रूप में श्रद्धा करे तब वह मिथ्यादृष्टि है और जब एक भी द्रव्य या पर्याय के विषय में बुद्धि की मंदता के कारण सम्यग्ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान का अभाव होने से न तो एकान्त श्रद्धा होती है और न एकान्त अश्रद्धा, तब वह मिश्रदृष्टि कहलाता है। इस प्रकार जब श्रद्धा-अश्रद्धा दोनों न हों तब उसे मिश्रदृष्टि कहते हैं। परन्तु जब एक भी वस्तु या पर्याय के विषय में एकान्त अश्रद्धा हो तब उसे मिथ्यादृष्टि ही कहा जायेगा।

२. **सासादनगुणस्थान**—आय—उपशम सम्यक्त्व के लाभ का जो नाश करे उसे आयसादन कहते हैं। व्याकरण के नियम के अनुसार इसमें 'य' शब्द का लोप होने से आसादन शब्द बनता है। अतः जो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधिकषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, तब तक अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवालिका पर्यन्त सासादनसम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूपविशेष को सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान कहते हैं।

जिस प्रकार पर्वत से गिरने और अभी भूमि पर न आने के पहले मध्य में जो समय है, उसे न पर्वत पर ठहरने का और न भूमि पर ठहरने का समय कह सकते हैं, किन्तु अनुभयकाल है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधिकषायों के उदय होने से सम्यक्त्वपरिणामों के छूटने पर और मिथ्यात्वपरिणामों के प्राप्त न होने पर मध्य के अनुभयकाल-भावी परिणामों को सासादनगुणस्थान कहते हैं।

यद्यपि इस गुणस्थान के समय जीव मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले को विलक्षण स्वाद का अनुभव होता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल तक सम्यक्त्व गुण का

विलक्षण आस्वादन अनुभव में आता है। इस स्थिति का द्योतक यह सासादनगुणस्थान है।

३. **मिश्रदृष्टिगुणस्थान**—सम्यग्—यथार्थ और मिथ्या—अयथार्थ दृष्टि-श्रद्धा है जिसकी उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि और उसके ज्ञानादि गुणों के स्वरूपविशेष को सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान कहते हैं। अर्थात् दर्शनमोहनीय के तीन पुंजों—शुद्ध (सम्यक्त्व), अशुद्ध (मिथ्यात्व) और अर्द्धविशुद्ध (सम्यग्मिथ्यात्व) में से जब अर्धविशुद्ध पुंज का उदय हो जाता है, जिससे जिनप्रणीत तत्त्व पर श्रद्धा या अश्रद्धा नहीं होती है[1] किन्तु गुड़ से मिश्रित दही के स्वाद की तरह श्रद्धा-अश्रद्धा मिश्र होती है। इस प्रकार की श्रद्धा वाले जीव को सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं और उसका स्वरूपविशेष मिश्र (सम्यग्-मिथ्यात्व) गुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान में श्रद्धा (रुचि), अश्रद्धा (अरुचि) न होने का कारण यह है जीव मिश्रगुणस्थान में पहले और चौथे इन दोनों गुणस्थानों

---

१ मिथ्यात्वमोहनीय के एकस्थानक और मंद द्विस्थानक रस वाले पुद्गलों को सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं, उनके उदय से जिन वचनों पर श्रद्धा होती है, उस समय आत्मा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होती है। मध्यम द्विस्थानक रस वाले मिथ्यात्व के पुद्गलों को मिश्रमोहनीय कहते हैं। उनके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व पर श्रद्धा या अश्रद्धा नहीं होती है और तीव्र द्वि, त्रि और चतुः स्थानक रस वाले पुद्गल मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं। उनके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व के प्रति अरुचि ही होती है। उक्त तीन पुंजों में से जब अर्धविशुद्ध पुंज का उदय होता है तब उसके उदय से जीव को अरिहंतभाषित तत्त्व की अर्धविशुद्ध श्रद्धा होती है। अर्थात् जिनप्रणीत तत्त्व के प्रति रुचि या अरुचि नहीं होती है, तब सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान प्राप्त होता है।

से आता है। पहले से आने वाले के जो अरुचि थी, वह तो हट जाती है, किन्तु रुचि थी ही नहीं। चौथे से आने वाले के जो रुचि थी, वह दूर हो जाती है और अरुचि तो थी ही नहीं। इसीलिए तीसरे गुणस्थान में रुचि या अरुचि नहीं होती है। इसी का नाम अर्धविशुद्ध श्रद्धा है।

इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तत्पश्चात् परिणाम के अनुसार पहले या चौथे गुणस्थान को जीव प्राप्त करता है।

४. **अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान**—हिंसादि सावद्य व्यापारों और पापजनक प्रयत्नों के त्याग को विरति कहते हैं और पाप व्यापारों एवं प्रयत्नों का त्याग न किया जाना अविरति कहलाता है। चारित्र और व्रत ये विरति के अपर नाम हैं। अतः सम्यग्दृष्टि होकर भी जो जीव किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता है उसे अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसका स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाता है। ये सम्यग्दृष्टि आत्मायें अविरति के निमित्त से होने वाले कर्मबंध के दुरंत फल को जानती हैं और यह भी जानती हैं कि मोक्षमहल में चढ़ने के लिए नसैनी के सामान विरति है, किन्तु उसको स्वीकार नहीं कर पाती हैं और न उसके पालन का प्रयत्न कर पाती हैं। इसलिए इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

यद्यपि इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन तीन में से कोई एक सम्यक्त्व होने से हेयोपादेय का विवेक होता है और संसार के प्रति आसक्तिभाव भी अल्प होता है और आत्महितकारी प्रवृत्ति में उल्लास आता है, लेकिन संयमविघातक अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय रहने से आंशिक संयम का भी पालन

नहीं किया जा सकता है। यहाँ नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा अनन्त-गुणी विशुद्धि होती है और ऊपर के पांचवें गुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन विशुद्धि होती है।

५. **देशविरतगुणस्थान**—जो सम्यग्दृष्टि जीव सर्वविरति की आकांक्षा होने पर भी प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से हिंसादि पापक्रियाओं का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय न होने से देशतः आंशिक त्याग करते हैं वे देशविरति कहलाते हैं। इनका स्वरूपविशेष देशविरतगुणस्थान है। देशविरति को श्रावक भी कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती कई श्रावक एक व्रत लेते हैं, यावत् कोई सर्व व्रत-विषयक सावद्ययोग का त्याग करते हैं। इस प्रकार अधिक-अधिक व्रतों का पालन करने वाले कई श्रावक ऐसे होते हैं जो अनुमति को छोड़कर सावद्ययोग का सर्वथा त्याग करते हैं।

अनुमति के तीन प्रकार हैं—प्रतिसेवनानुमति, प्रतिश्रवणानुमति और संवासानुमति। अपने या दूसरे के सावद्यारंभ से किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवनानुमति है। पुत्र आदि किसी संबंधी के द्वारा किये गये पाप कर्मों को सुनना और सुनकर भी उन कर्मों को करने से उनको नहीं रोकना प्रतिश्रवणानुमति है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों को पापकार्य में प्रवृत्त होने पर भी उन पर सिर्फ ममता रखना अर्थात् न तो पापकर्म को सुनना और सुनकर भी न उसकी प्रशंसा करना संवासानुमति है। इन तीनों में से जो संवासानुमति के सिवाय सर्व पाप-व्यापार का त्याग करता है वह उत्कृष्ट देशविरत श्रावक कहलाता है। अर्थात् अन्य श्रावकों अपेक्षा वह श्रेष्ठ होता है।

६. **प्रमत्तसंयतगुणस्थान**—सर्वसंयम की घातक प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय न होने से जो जीव तीन करण तीन योगों से

सर्वसावद्य व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं वे संयत (मुनि) हैं। लेकिन संज्वलनकषाय का उदय रहने से प्रमाद का सेवन करते हैं तब तक वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को प्रमत्तसंयतगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव सावद्यकर्मों का यहाँ तक त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति का भी सेवन नहीं करते हैं।

यहाँ देशविरतगुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धि होने से विशुद्धि का प्रकर्ष और अविशुद्धि का अपकर्ष होता है और अप्रमत्त-संयतगुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन विशुद्धि होने से विशुद्धि का अपकर्ष और अविशुद्धि का उत्कर्ष होता है। इसी प्रकार अन्य गुण-स्थानों के लिए भी समझना चाहिए।

इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणकषाय का क्षयोपशम होने से जीव सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय चारित्र प्राप्त करता है। परिहारविशुद्धि संयमी भी हो सकता है, किन्तु उसकी विवक्षा नहीं की है। क्योंकि इस चारित्र का ग्रहण तीर्थंकर अथवा जिसने तीर्थंकर से यह चारित्र ग्रहण किया है, उसके पास होता है तथा चौथे आरे में उत्पन्न प्रथम संहनन और साड़े नौ पूर्व के ज्ञानी को यह चारित्र होता है, अन्य को नहीं होता है। अतएव अल्प काल और अल्प ग्रहण करने वाले होने से छठे सातवें गुणस्थान में इस चारित्र के होने पर भी विवक्षा नहीं की जाती है।

७. **अप्रमत्तसंयतगुणस्थान**—जो संयत (मुनि) संज्वलनकषाय का मंद उदय होने से निद्रा, विकथा, कषाय आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते हैं, वे अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को अप्रमत्तसंयतगुणस्थान कहते हैं।

छठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में इतना अंतर है कि सातवें गुणस्थान में थोड़ा-सा भी प्रमाद नहीं होने से

व्रतों में अतिचारादि संभव नहीं हैं किन्तु छठे गुणस्थान में प्रमाद होने से व्रतों में अतिचार लगने की संभावना है।

प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरती है। इसलिये इस गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं।

८. **अपूर्वकरणगुणस्थान**—अपूर्व—पूर्व में नहीं हुए अथवा अन्य गुणस्थानों के साथ तुलना न की जा सके उसे अपूर्व कहते हैं और करण स्थितिघातादि क्रिया अथवा परिणाम। इसका यह अर्थ हुआ कि पूर्व में नहीं हुए अथवा अन्य गुणस्थानों के साथ जिनकी तुलना न की जा सके ऐसे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थितिबंध[1] ये पांच पदार्थ जिसके अन्दर होते हैं, अथवा पूर्व में नहीं हुए ऐसे विशेषशुद्धि वाले अपूर्व परिणाम[2] जहां होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं और इस प्रकार के परिणाम में वर्तमान जीवों के स्वरूपविशेष को अपूर्वकरणगुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान का अपरनाम निवृत्तिबादरगुणस्थान भी है। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति ये समानार्थक शब्द हैं। अतः जिस गुणस्थान में अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन तीनों बादर कषायों की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था विशेष को निवृत्तिबादरगुणस्थान कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त में छठा और अन्तर्मुहूर्त में सातवां गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार के स्पर्श से जो संयत विशेष प्रकार की

---

१ इन स्थितघात आदि पांच पदार्थों की विशेष व्याख्या उपशमश्रेणि के विचारप्रसंग में की जायेगी।

२ अपूर्वकरण में उत्तरोत्तर अपूर्व स्थितिबंध और अध्यवसायों की वृद्धि विषयक विचार का सारांश परिशिष्ट में दिया गया है।

शुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणी मांडने वाला होता है, वह इस अपूर्वकरणगुणस्थान में आता है। यद्यपि दोनों श्रेणियों का प्रारम्भ नौवें गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला यह आठवां गुणस्थान है। अर्थात् आठवें गुणस्थान में उपशमन या क्षपण की योग्यता प्राप्त होती है और श्रेणी का प्रारम्भ नौवें गुणस्थान से होता है।

९ **अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान**—जिसमें समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में तारतम्य न हो और बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) का उदय होता है, उसे अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और एक अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय-स्थान इस गुणस्थान के होते हैं और वे प्रथम समय से लेकर उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि वाले हैं। अर्थात् पहले समय में जो अध्यवसाय होते हैं, उससे दूसरे समय में अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं, यावत् चरम समय पर्यन्त इसी प्रकार से जानना चाहिये।

नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) उपशमक और (२) क्षपक। चारित्रमोहनीय की उपशमना करने वाले उपशमक और क्षय करने वाले क्षपक कहलाते हैं।

यद्यपि आठवें और नौवें गुणस्थान में अध्यवसायों की विशुद्धि होती रहती है, फिर भी इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है। जैसे कि आठवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि की तरतमता से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, किन्तु नौवें गुणस्थान में समानशुद्धि के कारण समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का एक ही वर्ग होता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान से उत्तर-उत्तर के गुणस्थान में कषायों के अंश कम-कम होते जाने से कषायों की न्यूनता के अनुसार जीवों के

परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है। अतः आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उनके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

जिस गुणस्थान में एक साथ चढ़े हुए जीवों के अध्यवसायों में परस्पर तारतम्य हो, उसे निवृत्ति और जिस गुणस्थान में साथ चढ़े हुए जीवों के अध्यवसायों में परस्पर तारतम्य न हो, परन्तु एक का जो अध्यवसाय, वही दूसरे का, वही तीसरे का, इस प्रकार अनन्त जीवों का भी एक समान हो, उसे अनिवृत्तिगुणस्थान कहते हैं। यही आठवें और नौवें गुणस्थान के बीच अन्तर है।

इस गुणस्थान में भी आठवें गुणस्थान की तरह स्थितिघात आदि पांचों पदार्थ होते हैं तथा विशुद्धि का विचार दो तरह से किया जाता है—(१) तिर्यग्मुखी विशुद्धि और (२) ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि। इसमें उत्तरोत्तर ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि होती है।

१०. **सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान**—किट्टीरूप (कृश) किये हुए सूक्ष्मसंपराय अर्थात् लोभकषाय का जिसमें उदय होता है, उसे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में मात्र संज्वलन लोभकषाय के सूक्ष्म खण्डों का उदय शेष रहता है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक अथवा क्षपक होते हैं। लोभ के सिवाय चारित्रमोहनीय कर्म की दूसरी ऐसी प्रकृति नहीं होती है जिसका उपशमन या क्षपण न हुआ हो। अतः उपशमक लोभकषाय का उपशमन और क्षपक क्षपण करते हैं। यहाँ सूक्ष्म लोभखंडों का उदय होने से यथाख्यातचारित्र के प्रगट होने में कुछ न्यूनता रहती है।

११. **उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान**—आत्मा के ज्ञानादि गुणों को जो आच्छादित करे उसे छद्म कहते हैं अर्थात् ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का उदय और उन घातिकर्मों के उदय

वाले जीवों को छद्मस्थ कहते हैं। दसवें गुणस्थान तक के छद्मस्थ रागी भी होते हैं, उनसे अलग करने के लिए वीतराग विशेषण दिया है। माया और लोभ कषाय का उदयरूप राग और उपलक्षण से क्रोध और मान का उदयरूप द्वेष भी जिनका दूर हो गया है, उन्हें वीतराग कहते हैं। यहाँ वीतरागछद्मस्थ का ग्रहण है किन्तु दसवें गुणस्थान तक के रागी छद्मस्थ का नहीं। वीतरागछद्मस्थ बारहवें गुणस्थान वाली आत्माएँ भी होती हैं, अतः उनसे पृथक् करने के लिए उपशान्तकषाय विशेषण दिया है। उपशांतकषाय अर्थात् जिन्होंने कषायों को सर्वथा उपशमित किया यानी कषायों की सत्ता होने पर भी उनकी इस प्रकार की स्थिति बना दी है कि जिनमें संक्रमण और उद्वर्तनादि करण एवं विपाकोदय या प्रदेशोदय कुछ भी नहीं हो सकते हैं। मोहनीयकर्म का जिन्होंने सर्वथा उपशम किया है, ऐसे वीतराग का यहाँ ग्रहण किये जाने से बारहवें गुणस्थान वाली आत्माओं से पृथक्करण हो जाता है। क्योंकि उन्होंने तो मोह का सर्वथा क्षय किया है। अतः उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ आत्मा का जो गुणस्थानस्व—रूपविशेष वह उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान कहलाता है।

इस कथन का सारांश यह है कि जिनके कषाय उपशांत हुए हैं, राग का भी सर्वथा उदय नहीं और राग के उपलक्षण से द्वेष का ग्रहण हो जाने से उसका भी सर्वथा उदय नहीं है और जिनके अभी छद्म (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशांतकषाय-वीतरागछद्मस्थ कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को उपशांत-कषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहते हैं।

शरद् ऋतु में होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम इस गुणस्थान वाले जीव के होते हैं। इस गुणस्थान में विद्यमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। क्योंकि आगे के गुणस्थान वही

पा सकता है जो क्षपकश्रेणि को करता है और क्षपकश्रेणि के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। किन्तु इस गुणस्थान वाला जीव नियम से उपशमश्रेणि को करने वाला होता है। अतएव वह इस गुणस्थान से अवश्य गिरता है।

यदि गुणस्थान का समय पूरा न होने पर जो जीव भवक्षय से गिरता है तो अनुत्तरविमान में देवरूप से उत्पन्न होता है और वहाँ व्रत आदि धारण करना संभव न होने से चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान को ही प्राप्त करता है और तब वह उस गुणस्थान के योग्य कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है। परन्तु आयु के शेष रहते इस गुणस्थान से गिरता है तो पतन के समय आरोहण के क्रम के अनुसार गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस-उस गुणस्थान के योग्य सर्व कर्मप्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरणा करना प्रारम्भ कर देता है और यह गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान को, कोई पांचवें गुणस्थान को, कोई चौथे गुण-स्थान को और कोई दूसरे गुणस्थान को प्राप्त करते हुए पहले गुणस्थान तक आ जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान की कालमर्यादा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

१२. **क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान**—सर्वथा प्रकार से कषाय जिनके नष्ट हुए हैं, उनको क्षीणकषाय कहते हैं। अर्थात् जो मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु शेष छद्म (घाति-कर्म का आवरण) अभी विद्यमान है, उनको क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ कहते है और उनका स्वरूपविशेष क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थगुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इसमें वर्तमान जीव क्षपक-श्रेणि वाले ही होते हैं।

इस बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए मोहनीयकर्म का क्षय होना जरूरी है और क्षय करने के लिए क्षपकश्रेणी[1] की जाती है।

इस बारहवें गुणस्थान के नाम में क्षीणकषाय, वीतराग और छद्मस्थ ये तीनों व्यावर्तक विशेषण हैं। क्योंकि क्षीणकषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ इतने नाम से ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है। क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं किन्तु उपशांत होते हैं और वीतराग इस विशेषण से रहित क्षीणकषायछद्मस्थगुणस्थान इतने नाम से बारहवें के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध हो जाता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबंधी आदि कषायों का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध नहीं होता है। क्योंकि किसी न किसी अंश में राग का उदय उन गुणस्थानों में है, जिससे वीतरागत्व असंभव है। इसी प्रकार छद्मस्थ इस विशेषण के न रहने से भी क्षीणकषाय-वीतराग इतना नाम बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु छद्मस्थ इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान जीव के छद्म (घातिकर्म का आवरण) नहीं रहता है। इसीलिए उन सब विशेषताओं को ग्रहण करने के लिए बारहवें गुणस्थान का क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ यह नामकरण किया गया है।

१३. **सयोगिकेवलीगुणस्थान**—योग अर्थात् वीर्य-परिस्पंद। अतः मन, वचन और काया के द्वारा जिनके वीर्य की प्रवृत्ति होती हो, उन्हें सयोगि कहते हैं। अर्थात् जो चार घनघातिकर्मों (ज्ञाना-

---

१. क्षपकश्रेणि का वर्णन उपशमनाकरण में किया जा रहा है।

वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय) का क्षय करके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर चुके हैं तथा पदार्थ को जानने-देखने में इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं और योग सहित हैं, उन्हें सयोगिकेवली कहते हैं और उनका स्वरूपविशेष सयोगिकेवलीगुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है।

१४. **अयोगिकेवलीगुणस्थान**—जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, वे अयोगिकेवली कहलाते हैं। अर्थात् जब सयोगिकेवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योगरहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं तब वे अयोगिकेवली कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को अयोगिकेवलीगुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है और तीनों योगों का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती है। सयोगि अवस्था में तो केवली भगवान अपनी आयुस्थिति के अनुसार रहते हैं, लेकिन जिन सयोगिकेवली भगवान के चार अघातिकर्मों में से आयुकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणु की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति और पुद्गलपरिमाणु अधिक होते हैं, वे समुद्घात[1] करते हैं और इसके द्वारा वे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान के वेदनीय

---

१ तत्र सम्यग्—अपुनर्भावेन उत्-प्राबल्येन वेदनीयादिकर्मणां हननं-घातः प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घातः।

जिस प्रयत्नविशेष में सम्यक् प्रकार से अथवा प्रमुख रूप से वेदनीय आदि कर्मों का क्षय किया जाता है, उसे समुद्घात कहते हैं।

आदि तीन अघातिकर्मों की स्थिति व पुद्गलपरमाणु आयुकर्म के बराबर हैं, उनको समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं होती है। अतएव वे समुद्घात नहीं करते हैं। केवली भगवान द्वारा यह समुद्घातक्रिया की जाती है, इसलिये इसे केवलिसमुद्घात कहते हैं।[1]

अंतिम समय में परम निर्जरा के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं। पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते फिर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं। अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अंत में सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिशुक्लध्यान से उस सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं।

इस प्रकार सयोगिकेवली भगवान अयोगि बन जाते हैं। साथ ही उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिशुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। जिससे उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित घने बन जाते हैं कि वे शरीर के दो तिहाई भाग में समा जाते हैं और बाद में वे केवली भगवान समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिशुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और पंच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के उच्चारण करने जितने समय में शैलेशीकरण करने के द्वारा चारों अघातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्धक्षेत्र में चले जाते हैं। वहाँ परम परमात्मदशा का अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों का कालप्रमाण इस प्रकार है—

मिथ्यात्वगुणस्थान—अभव्य का अनादि-अनन्तकाल, भव्य का अनादि-सांतकाल और सम्यक्त्व से पतित का सादि-सांत—जघन्य से

---

१ केवलिसमुद्घात सम्बन्धी प्रक्रिया का विवरण परिशिष्ट में देखिये।

अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से देशोन पुद्गलपरावर्तनकाल है।

सासादनगुणस्थान—जघन्य से एक समय, उत्कृष्ट से छह आवलिका।

मिश्र, क्षीणमोह, अयोगिकेवली गुणस्थान—इन तीन का जघन्य उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। लेकिन अयोगिकेवली गुणस्थान के लिये इतना विशेष जानना चाहिये कि उसका समय पांच ह्रस्वाक्षर—अ, इ, उ, ऋ, लृ—उच्चारण प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से साधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण।

देशविरत, सयोगिकेवली गुणस्थान—जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण।

प्रमत्तसंयतादि उपशांतमोह पर्यन्त गुणस्थान—इन छह गुणस्थानों का काल जघन्य से मरण की अपेक्षा एक समय, अन्यथा जघन्य-उत्कृष्ट दोनों प्रकार से अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार से गुणस्थानों के इस क्रमारोहण में नर से नारायण होने का विधान अंकित है। अब इनमें प्राप्त योगों का कथन प्रारम्भ करते हैं।

गुणस्थानों में योग

'जोगाहार दुगूणा.....' इत्यादि अर्थात् पूर्व में योग के जो मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदों के क्रमशः चार, चार और सात भेदों के नाम बताये हैं, उनमें से यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि—इन तीन गुणस्थानों में योगों को बताया है कि आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र इन दो योगों के बिना शेष तेरह योग होते हैं।

इन तीनों गुणस्थानों में आहारकद्विक योग न पाये जाने का कारण यह है कि आहारकशरीर और आहारकमिश्र ये दोनों योग चारित्रसापेक्ष हैं और चौदह पूर्वधर संयत को ही होते हैं, किन्तु

इन गुणस्थानों में संयम और चौदह पूर्व के ज्ञान का अभाव है। इसी कारण मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि—इन तीन गुणस्थानों में आहारकद्विक योगों का निषेध किया है। इनसे शेष रहे तेरह योगों की प्राप्तिक्रम इस प्रकार है—

कार्मणयोग विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र—यह दो योग उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक तथा चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिककाययोग, वैक्रियकाययोग यह दस योग पर्याप्त अवस्था में होते हैं। इस प्रकार कुछ मिलाकर तेरह योग मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि—इन तीन गुणस्थानों में पाये जाते हैं।

'अपुव्वाइसु पंचसु ...' अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह और क्षीणमोह इन पांच गुणस्थानों में नौ-नौ योग होते हैं। वे नौ योग हैं—'ओरालो मणवई य' अर्थात् औदारिककाययोग, मनोयोगचतुष्क और वचनयोगचतुष्क। शेष छह योग न होने का कारण यह है कि ये पांचों गुणस्थान विग्रहगति, केवलीसमुद्घात और अपर्याप्त-अवस्था में नहीं पाये जाते हैं तथा अप्रमत्तावस्थाभावी हैं। अतः कदाचित् कोई लब्धिसंपन्न इन गुणस्थानों को प्राप्त करे भी तो इन गुणस्थानों में प्रमादजन्य लब्धिप्रयोग संभव नहीं होने से वैक्रियद्विक और आहारकद्विक रूप चार योग नहीं होते हैं तथा औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग अनुक्रम से अपर्याप्त अवस्था एवं विग्रहगति और केवलीसमुद्घात में होते हैं। जिससे इन अपूर्वकरणादि पांच गुणस्थानों में वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, औदारिकमिश्र और कार्मण इन छह योगों के सिवाय शेष नौ योग होते हैं।

तीसरे मिश्रगुणस्थान में पूर्वोक्त नौ योगों के साथ 'वेउव्विणा-जुया'—वैक्रियकाय को मिलाने से दस योग होते हैं और औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, कार्मण, आहारकद्विक ये पांच योग नहीं होते हैं।

इसका कारण यह है कि यह तीसरा गुणस्थान पर्याप्त-अवस्था में ही होता है, जिससे अपर्याप्त-अवस्थाभावी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण योग संभव नहीं हैं तथा आहारकद्विक तो लब्धिसंपन्न चौदह पूर्वधर को ही होते हैं और इस गुणस्थान में चौदह पूर्वधर होता नहीं है, जिससे वे भी संभव नहीं हैं। इस प्रकार इन पांचों योगों को कम करने पर शेष चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक और वैक्रिय काययोग ये दस योग ही मिश्रगुणस्थान में संभव हैं।

मिश्रगुणस्थान में वैक्रियमिश्रकाययोग न मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—अपर्याप्त-अवस्थाभावी देव, नारक सम्बन्धी वैक्रियमिश्रकाययोग संभव न हो, परन्तु वैक्रियलब्धिधारी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंचों के मिश्रदृष्टि होने पर वैक्रियशरीर भी संभव है। जिससे वे जब उसे प्रारम्भ करें तब उनको वैक्रियमिश्रकाययोग हो सकता है। इस अपेक्षा दृष्टि से मिश्रगुणस्थान में वैक्रियमिश्रकाययोग मानना चाहिए। फिर उसका निषेध क्यों किया है ?

उत्तर—इस गुणस्थान वाले तथाविधयोग्यता का अभाव होने से वैक्रियलब्धि का उपयोग नहीं करते हैं। इसलिए यहाँ वैक्रियमिश्रयोग नहीं माना है।[1]

'ते जुया साहारगेण अपमत्ते' अर्थात् पूर्व में कहे गये औदारिक आदि नौ तथा वैक्रिय इन दस योगों के साथ आहारककाययोग

---

१ आचार्य मलयगिरिसूरि ने इसका विशेष स्पष्टीकरण न करते हुए यही बताया है कि—तेषां वैक्रियाकरणभावतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणादाचार्येणान्यैश्च तन्नाभ्युपगम्यते, तन्न सम्यगवगच्छामः तथाविधसंप्रदायाभावात्।

इस गुणस्थान वाले वैक्रियलब्धि न करते हों, इसलिए अथवा →

को मिलाने पर अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान में ग्यारह योग पाये जाते हैं। अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में यद्यपि किसी भी लब्धि का प्रयोग नहीं किया जाता है, किन्तु छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान में वैक्रिय या आहारक लब्धि का प्रयोग करने के पश्चात् कोई इस अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में जाये तो दोनों शुद्ध योग अर्थात् वैक्रिय और आहारक योग संभव हैं, मिश्र नहीं। क्योंकि लब्धि करते और छोड़ते समय प्रमत्तदशा होती है, जिससे उस समय मिश्रयोग संभव है। इसीलिए अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में वैक्रिय, आहारक सहित पूर्वोक्त औदारिक, मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क कुल ग्यारह योग माने जाते हैं।

'देसे दुविउव्विजुया' अर्थात् पूर्व में जो अपूर्वकरण आदि पांच गुणस्थानों में चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग कुल नौ योग बताये हैं, उनमें वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग को और मिलाने से ग्यारह योग देशविरत नाम पांचवें गुणस्थान में होते हैं।

इस गुणस्थान में वैक्रियद्विक योग मानने का कारण यह है कि पांचवां गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंचों में होता है और यदि वे वैक्रियलब्धिसंपन्न हों तो वैक्रियशरीर बना सकते हैं। तब उत्तरवैक्रियशरीर बनाते समय वैक्रियमिश्र और बनाने के पश्चात् वैक्रिय योग होगा। किन्तु आहारकद्विक तथा औदारिकमिश्र और कार्मण योग न होने का कारण यह है आहारकद्विक पूर्ण संयमसापेक्ष है, किन्तु देशविरतगुणस्थान में पूर्ण संयम नहीं है तथा अपर्याप्त-

---

अन्य किसी कारण से ग्रंथकर्ता आचार्य तथा और दूसरे आचार्यों ने यहाँ वैक्रियमिश्र नहीं माना है। उसका वास्तविक कारण तथाविधसंप्रदाय का अभाव होने से हम नहीं जान सके हैं।

गोम्मटसार जीवकांड गाथा ७०३ में भी मिश्रगुणस्थान में वैक्रियमिश्रयोग नहीं बताया है।

अवस्था न होने से औदारिकमिश्र व कार्मण योग भी नहीं हो सकते हैं।

पांचवें गुणस्थान में बताये गये ग्यारह योगों के साथ आहारक, आहारकमिश्र इन दोनों योगों को मिलाने पर प्रमत्तसंयतगुणस्थान में कुल तेरह योग होते हैं—'आहारदुगेण य पमत्ते'।[1]

तेरह योग मानने का कारण यह है कि यह गुणस्थान मनुष्यों में संभव है। अतः मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय और औदारिक कुल नौ योग तो सब मनुष्यों में साधारण हैं तथा इस गुणस्थान में वैक्रिय और आहारक लब्धिसंपन्न मुनियों को वैक्रियद्विक और आहारकद्विक होते हैं। वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र ये दो योग वैक्रियशरीर और आहारकशरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय पाये जाते हैं और उसके सिवाय शेष लब्धिकाल में वैक्रिय और आहारक योग होते हैं। इसलिए प्रमत्तसंयतगुणस्थान में तेरह योग माने हैं।

इस प्रकार से अभी तक पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान तक बारह गुणस्थानों में योग का विचार किया गया। अब शेष रहे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में योगों का निर्देश करते हैं—

'अज्जोगो अज्जोगी' अर्थात् अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में सूक्ष्म या बादर कोई भी योग नहीं होता है। क्योंकि अयोगि-अवस्था का कारण योग का अभाव ही है। अर्थात् जब अयोगि-अवस्था में योग का अभाव ही है तो फिर योग के भेदों में

---

१ दिगम्बर कर्मग्रंथों में पांचवें और सातवें गुणस्थान में औदारिककाययोग, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल नौ योग तथा छठे गुणस्थान में औदारिक-काययोग, आहारकद्विक, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल ग्यारह योग बताये हैं।

—गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ७०३

से किसी भी योग का सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए चौदहवें गुणस्थान में कोई भी योग नहीं होता है, वह तो योगातीत अवस्था है—'अज्जोगो अज्जोगी'।

लेकिन सयोगिकेवलीगुणस्थान में—'सत्त सजोगंमि होंति'—सात योग होते हैं। जिनके नाम हैं—सत्यमनोयोग, असत्यामृषा-मनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग—'दो दो मणवइ जोगा उरालदुगं सकम्मइगं'।

इनमें से औदारिकमिश्र केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में तथा कार्मण तीसरे, चौथे और पांचवें समय में होते हैं। शेष रहे पांच योगों में से औदारिककाययोग विहार आदि की प्रवृत्ति के समय में, वचनयोगद्वय देशनादि के समय तथा मनोयोग-द्वय मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर देवों के मन द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते समय होते हैं।

इस प्रकार गुणस्थान में योगों का निर्देश जानना चाहिए।[1] अब योगों की तरह गुणस्थानों में उपयोग का विवेचन करते हैं।

गुणस्थानों में उपयोग

अचक्खुचक्खुदंसणमन्नाणतिगं च मिच्छसासाणे।
विरयाविरए सम्मे नाणतिगं दंसणतिगं च ॥१९॥
मिस्संमि वामिस्सं मणनाणजुयं पमत्तपुव्वाणं।
केवलियनाणदंसण उवओगा अजोगिजोगीसु ॥२०॥

शब्दार्थ—**अचक्खुचक्खुदंसणं**—अचक्षु-चक्षुदर्शन, **अन्नाणतिगं**—अज्ञान-त्रिक, **च**—और, **मिच्छ**—मिथ्यात्व, **सासाणे**—सासादन में, **विरयाविरए**—

---

१ दिगम्बरसाहित्य में वर्णित गुणस्थानों में योग - निर्देश को परिशिष्ट में देखिये।

विरताविरत (देशविरत) में, **सम्मे**—अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में, **नाण-तिगं**—तीन ज्ञान, **दंसणतिगं**—तीन दर्शन, और।

मिस्संमि—मिश्रगुणस्थान में, **वामिस्स**—व्यामिश्र-मिश्रित, **मणनाण-जुयं**—मनपर्यायज्ञान सहित, **पमत्तपुव्वाणं**—प्रमत्त है पूर्व में जिनके अर्थात् प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में, **केवलियनाणदंसण**—केवलज्ञान केवलदर्शन, **उवओगा**—उपयोग, **अजोगिजोगीसु**—अयोगि और सयोगि केवली गुण-स्थान में।

गाथार्थ—मिथ्यात्व, सासादन गुणस्थान में अज्ञानत्रिक और अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन ये पांच उपयोग तथा अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थान में तीन ज्ञान और तीन दर्शन इस प्रकार छह उपयोग होते हैं।

मिश्रगुणस्थान में पूर्वोक्त छह उपयोग (अज्ञान से) मिश्रित होते हैं। प्रमत्त आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानों में मन-पर्याय सहित सात उपयोग तथा अयोगि व सयोगि केवली गुण-स्थान में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं।

विशेषार्थ—उपयोग के बारह भेदों के नाम पूर्व में बताये जा चुके हैं। उनमें से प्रत्येक गुणस्थान में प्राप्त उपयोगों का निर्देश करते हुए कहा है कि 'मिच्छेसासाणे'—मिथ्यात्व और सासादन नामक पहले दूसरे दो गुणस्थानों में अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन और अज्ञानत्रिक—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान इस प्रकार कुल मिलाकर पांच उपयोग होते हैं। आदि के इन दो गुणस्थानों में मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक, और चक्षु, अचक्षु दर्शन ये पांच उपयोग मानने का कारण यह है कि इन दोनों गुणस्थानों में सम्यक्त्वसहचारी मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये सात उपयोग नहीं होते हैं।[1]

---

१ सिद्धान्त के मतानुसार यहाँ अवधिदर्शन भी संभव है। इसका स्पष्टीकरण →

अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत नामक चौथे और पांचवें गुणस्थान में 'नाणतिगं दंसगतिगं'– ज्ञानत्रिक– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और दर्शनत्रिक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन

करते हुए टीकाकार आचार्य मलयगिरिसूरि ने बताया है कि—श्रुतविदों ने यहाँ किस अभिप्राय से अवधिदर्शन नहीं माना है, यह हम समझ नहीं सके हैं। क्योंकि भगवतीसूत्र (८/२) में स्पष्ट रूप से कहा है कि—

हे प्रभो ! अवधिदर्शनी अनाकार उपयोगी ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

हे गौतम ! ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी होते हैं तो कोई तीन ज्ञान वाले होते हैं और कोई चार ज्ञान वाले। जो तीन ज्ञान वाले हैं वे मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी होते हैं और जो चार ज्ञान वाले हैं वे मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञानी होते हैं। किन्तु जो अज्ञानी होते हैं वे नियम से मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी होते हैं।

इस प्रकार सूत्र में मिथ्यादृष्टि विभंगज्ञानियों को भी अवधिदर्शन स्पष्ट रूप से बताया है। क्योंकि जो अज्ञानी होता है वह मिथ्यादृष्टि ही होता है। जब अवधिज्ञानी सासादनभाव को अथवा मिश्रभाव को प्राप्त करे तब वहाँ भी अवधिदर्शन होता है। अर्थात् जैसे अवधिज्ञानोपयोग के समय अवधिज्ञानी को प्रथम सामान्यरूप अवधिदर्शन होता है, वैसे ही विभंग-ज्ञानोपयोग के पूर्व विभंग ज्ञानी को भी अवधिदर्शन मानना चाहिये।

भगवतीसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

'ओहिदंसणअणागारोवउत्ताणं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ?

गोयमा ! नाणीवि अन्नाणीवि। जइ नाणी ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी। जे तिण्णाणी ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवणाणी। जे अण्णाणि ते नियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगनाणी।

दिगम्बर कार्मग्रंथिकों ने भी आदि के दो गुणस्थानों में अज्ञानत्रिक, चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग माने हैं।

इस तरह कुल मिलाकर छह उपयोग होते हैं। ये दोनों गुणस्थान सम्यक्त्वसहचारी हैं, अतः मिथ्यात्व न होने से मिथ्यात्वनिमित्तक तीन अज्ञान तथा सर्वविरति न होने से मनपर्यायज्ञान और घातिकर्मों का अभाव न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन यह छह उपयोग संभव नहीं हैं। जिससे शेष रहे मतिज्ञान आदि छह उपयोग होते हैं।

'मिस्संमि' अर्थात् मिश्रगुणस्थान में भी यही पूर्वोक्त छह उपयोग होते हैं, यानी तीन ज्ञान और तीन दर्शन उपयोग होते हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि वे 'वामिस्सं'—मिश्रित होते हैं, यानी अज्ञानमिश्रित होते हैं। इसका कारण यह है मिश्रगुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के अंश होते हैं। उनमें से जब किसी समय सम्यक्त्वांश का बाहुल्य होता है, उस समय सम्यक्त्व की अधिकता है और यदि मिथ्यात्वांश की अधिकता हो तो मिथ्यात्व अधिक रहता है और यदि किसी समय दोनों अंशों की समानता हो तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व अंश समान रहता है। इसीलिये जब सम्यक्त्व अंश अधिक होता है तब ज्ञान का अंश अधिक और अज्ञान का अंश अल्प होता है तथा जब मिथ्यात्वांश का बाहुल्य हो तब अज्ञानांश अधिक और ज्ञान का अंश अल्प होता है, किन्तु दोनों अंशों के समान होने पर ज्ञान और अज्ञान दोनों समप्रमाण में होते हैं। इसी कारण मिश्रगुणस्थान में अज्ञानमिश्रित तीन ज्ञान और तीन दर्शन इस प्रकार छह उपयोग समझना चाहिए—'मिस्संमि वामिस्सं'।

मिश्रगुणस्थान में अवधिदर्शन मानने का कथन सिद्धान्त की अपेक्षा समझना चाहिए। कर्मसिद्धान्तवादियों में कुछ आचार्य अवधिदर्शन नहीं मानते हैं।

इस प्रकार से प्रथम पांच गुणस्थानों में उपयोगों का कथन करने के पश्चात् अब शेष गुणस्थानों में उपयोगों का निरूपण करते हैं।

जिसका सुगमता से बोध कराने के लिए इन गुणस्थानों के दो वर्ग बनाये हैं। प्रथम वर्ग में छद्मस्थ-अवस्थाभावी प्रमत्तसंयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थान हैं और द्वितीय वर्ग में निरावरण-अवस्था में प्राप्त सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानों का समावेश है।

प्रथम वर्ग के गुणस्थानों में उपयोगों का कथन करने के लिए गाथा में पद दिया है 'पमत्तपुव्वाणं' अर्थात् पूर्व में पहले से लेकर पांचवें तक जिन पांच गुणस्थानों में उपयोगों का विचार किया जा चुका है, उनसे शेष रहे छद्मस्थभावी प्रमत्तसंयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानों में पूर्वोक्त सम्यक्त्वसहचारी तीन ज्ञान और तीन दर्शन इन छह उपयोगों के साथ सर्वविरतिसहचारी 'मणनाणजुयं'—मनःपर्यायज्ञान को मिलाने पर सात उपयोग होते हैं।

इन सात गुणस्थानों में अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पांच उपयोगों को नहीं मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का अभाव होने से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान यह तीन अज्ञान नहीं पाये जाते हैं तथा अभी घातिकर्मों का क्षय न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग भी संभव नहीं हैं। इसीलिए इन पांच को छोड़कर शेष सात उपयोग इनमें समझना चाहिए। तथा—

'अजोगिजोगीसु' अर्थात् निरावरण-अवस्था में पाये जाने वाले अयोगि और सयोगि केवली नामक इन दोनों गुणस्थानों में कैवलिक ज्ञान-दर्शन यानि केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। घातिकर्मों का क्षय होने से छद्मस्थ-अवस्थाभावी मतिज्ञान आदि सात ज्ञानोपयोग तथा चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शनोपयोग कुल दस उपयोग नहीं होते हैं। इसीलिए इन केवलीद्विक गुणस्थानों में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग माने जाते हैं।

केवलीद्विक गुणस्थानों में केवलज्ञान-दर्शन यही दो उपयोग मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—अपने-अपने आवरण का देश—आंशिक क्षयोपशम होने और ज्ञानावरण, दर्शनावरण का उदय होने पर जैसे जीवों को मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञानोपयोग, अचक्षु, चक्षु, अवधि दर्शनोपयोग होते हैं, तो उसी प्रकार स्व-आवरण का सर्वक्षय होने पर वे केवलज्ञान, केवलदर्शन के समान क्यों नहीं हो जाते हैं ?

उत्तर—ये उपयोग क्षायोपशमिक हैं। क्षायोपशमिक भाव का अभाव नहीं होता है। क्षायोपशमिक उपयोगों का देशावरण क्षय ही संभव है। जैसे कि मेघ से आच्छादित सूर्य का चटाई के छिद्रों में प्रविष्ट प्रकाश घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार केवलज्ञानावरण से आवृत केवलज्ञान का प्रकाश मति आदि आवरणों के छिद्रों से निकलकर अपने-अपने नाम को धारण करके जीवादि पदार्थों को प्रकाशित करता है और चटाई के नष्ट होने पर जैसे छिद्रों का भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार सर्वावरण दूर होने पर क्षयोपशमजनित छिद्रों का भी अपगम हो जाता है। केवलज्ञान के अति निर्मल होने तथा केवलज्ञानावरण का क्षय होने से उसका प्रकाश मंद नहीं होता है। इसीलिए वे उपयोग नहीं होते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थानों में उपयोगों का कथन समझना चाहिए। अब योगोपयोगमार्गणा अधिकार के विवेचनीय विषयों में से शेष रहे मार्गणास्थानों में जीवस्थानों और गुणस्थानों का निर्देश करने के लिए ग्रंथकार आचार्य पहले मार्गणास्थानों के नाम बतलाते हैं।

मार्गणास्थानों के नाम व भेद

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य।
संजमदंसणलेसा भव्व सन्नि सम्म आहारे ॥२१॥

शब्दार्थ—गइ—गति, **इंदिए**—इन्द्रिय, **य**—और, **काए**—काय, **जोए**—योग, **वेए**—वेद, **कसाय**—कषाय, **नाणे**—ज्ञान, **य**—और, **संजमदंसणलेसा**—संयम, दर्शन और लेश्या, **भव्व**—भव्य, **सन्नि**—संज्ञी, **सम्म**—सम्यक्त्व, **आहारे**—आहार।

गाथार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, संज्ञी, सम्यक्त्व और आहार ये मार्गणा के मूल चौदह भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में मूल चौदह मार्गणाओं के नाम बताये हैं। यद्यपि पूर्व में इनके उत्तर भेदों का नाम सहित विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। लेकिन ग्रंथकार आचार्य ने स्वोपज्ञवृत्ति में मध्यम दृष्टि से इस प्रकार उत्तर भेदों की संख्या बतलाई है—चार, पांच, दो, तीन, तीन, चार, आठ, पांच अथवा एक, चार, छह, दो, दो, दो और दो। जिसका आशय यह हुआ कि गति आदि मूल मार्गणाओं के साथ यथाक्रम से संख्या की योजना करके प्रत्येक मार्गणा के उतने-उतने भेद समझ लेना चाहिए, अर्थात् गतिमार्गणा के चार भेद, इन्द्रियमार्गणा के पांच भेद इत्यादि।[1]

अब इन मार्गणास्थानों में जीवस्थानों का विचार करते हैं।

---

१ ग्रंथकार आचार्य ने संयममार्गणा के पांच अथवा एक भेद बतलाये हैं। ये कथन अपेक्षा से जानना चाहिए कि यदि संयम को सामान्य से ग्रहण करें तो अन्य भेद संभव नहीं होने से एक भेद होगा और बिना प्रतिपक्ष के शुद्ध संयम के विशेष से सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त पांच भेद करने पर पांच भेद होंगे। पहले जो संयममार्गणा के सात भेद बतलाये हैं, उनमें शुद्ध संयम भेदों के साथ तत्प्रतिपक्षी अविरत और एकदेश-संयम देशविरत का भी ग्रहण किया है। यह सब कथन संक्षेप व विस्तार की दृष्टि से समझना चाहिये।

मार्गणास्थानों में जीवस्थान

तिरियगइए चोद्दस नारयसुरनरगईसु दो ठाणा ।
एगिंदिएसु चउरो विगलपणिदीसु छच्चउरो ॥२२॥

शब्दार्थ—**तिरियगइए**—तिर्यञ्चगति में, **चोद्दस**—चौदह, **नारयसुर-नरगईसु**—नरक, देव और मनुष्य गति में, **दो ठाणा**—दो जीवस्थान, **एगिंदि-एसु**—एकेन्द्रियों में, **चउरो**—चार, **विगलपणिदीसु**—विकलेन्द्रियों और पंचे-न्द्रियों में, **छच्चउरो**—छह और चार।

गाथार्थ—तिर्यंचगति में चौदह, नरक, देव और मनुष्य गति में दो, एकेन्द्रिय में चार, विकलेन्द्रियों में छह और पंचेन्द्रियों में चार जीवस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—मार्गणास्थानों में जीवस्थानों का निर्देश प्रारम्भ करते हुए गाथा में गति और इन्द्रिय मार्गणा के चार और पांच भेदों में प्राप्त जीवस्थानों को बतलाया है—

'तिरियगइए चोद्दस'—तिर्यंचगति में सभी चौदह जीवस्थान होते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी भेद तिर्यंचगति में सम्भव होने से जीवस्थानों के सभी चौदह भेद इसमें पाया जाना स्वाभाविक है। इसीलिए तिर्यंचगति में सभी चौदह जीवस्थान माने जाते हैं तथा गतिमार्गणा के नरक, देव और मनुष्य इन तीनों भेदों में से प्रत्येक में 'दो ठाणा'—पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पंचे-न्द्रिय रूप दो-दो जीवस्थान होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरक और देव गति में संज्ञीद्विक (अपर्याप्त-पर्याप्त) जीवस्थान मानने का कारण यह है कि नरक और देव गति में वर्तमान कोई जीव असंज्ञी नहीं होते हैं। चाहे वे पर्याप्त हों या अपर्याप्त, किन्तु सभी संज्ञी होते हैं। इसलिए इन दो गतियों में अपर्याप्त, पर्याप्त संज्ञीद्विक जीवस्थान माने हैं।

यहाँ प्रयुक्त अपर्याप्त शब्द करण-अपर्याप्त के लिये समझना चाहिये। क्योंकि देव और नरक गति में लब्धि-अपर्याप्त रूप से कोई उत्पन्न नहीं होता है।

मनुष्यगति में भी यही जो दो जीवस्थान बतलाए हैं, वे नारक और देवों के समान करण-अपर्याप्त और संज्ञीपंचेन्द्रिय सहित की विवक्षा करके समझना चाहिये। क्योंकि नारक और देव तो लब्धि-अपर्याप्त होते ही नहीं हैं, वे करण-अपर्याप्त होते हैं, लेकिन मनुष्य करण-अपर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त दोनों प्रकार के संभव हैं। अतः लब्धि-अपर्याप्त को ग्रहण करके यदि मनुष्यगति में जीवस्थानों का विचार किया जाये तो पूर्वोक्त दो जीवस्थानों के साथ अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इस तीसरे जीवस्थान को मिलाने पर तीन जीवस्थान संभव हैं।

मनुष्यगति में अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान मानने का कारण यह है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—गर्भज और संमूर्च्छिम। गर्भज मनुष्य तो संज्ञी ही होते हैं और वे अपर्याप्त और पर्याप्त दोनों प्रकार के पाये जाते हैं। लेकिन संमूर्च्छिम मनुष्य ढाई द्वीप-समुद्र में गर्भज मनुष्यों के मल-मूत्र आदि में पैदा होते हैं और जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होती है एवं अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं। ऐसे संमूर्च्छिम मनुष्यों की अपेक्षा अपर्याप्त असंज्ञी जीवस्थान को मिलाने पर मनुष्यगति में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञीद्विक और अपर्याप्त असंज्ञी यह तीन जीवस्थान पाये जाते हैं।[1]

---

१ कहिणं भंते। सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति ?
गोयमा ! अंतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयण सयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमीसु, तीसाए अकम्मभूमीसु, छप्पन्नाए अंतरदीवेसु, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा →

गतिमार्गणा के चार भेदों में जीवस्थानों का विचार करने के पश्चात् अब इन्द्रियमार्गणा के भेदों में जीवस्थानों को बतलाते हैं—

इन्द्रियमार्गणा—'एगिंदिएसु चउरो'—अर्थात् एकेन्द्रियमार्गणा में अपर्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय रूप चार जीवस्थान होते हैं। क्योंकि इनके सिवाय अन्य किसी जीवस्थान में एकेन्द्रिय जीव नहीं पाये जाते हैं तथा 'विगलपणिंदीसु छच्चउरो'—अर्थात् विकलेन्द्रिय-त्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन्द्रियमार्गणा के इन तीन भेदों में अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप छह जीवस्थान होते हैं। क्योंकि ये पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। इसलिए द्वीन्द्रिय के दो—अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के दो—अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के दो—अपर्याप्त-पर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीवस्थान होते हैं। जिनका योग छह है। इसीलिये विकलेन्द्रियत्रिक में छह जीवस्थान माने हैं और पंचेन्द्रियमार्गणा में अपर्याप्त संज्ञी, पर्याप्त संज्ञी, अपर्याप्त असंज्ञी, पर्याप्त असंज्ञी यह चार जीवस्थान होते हैं।

सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु एत्थ वा सम्मुच्छिम मणुस्सा समुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जभागमित्ताए ओगाहणाए, असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्तद्धाउया चेव कालं करंति त्ति।

दिगम्बर कर्मग्रन्थों में मनुष्यगति में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो जीवस्थान माने हैं। शेष तीन गतिमार्गणाओं के जीवस्थानों की संख्या में अन्तर नहीं है—णिरयणरदेवगइसु सण्णीपज्जत्तया अपुण्णा य।

—पंचसंग्रह, शतकाधिकार गा. ८

इस प्रकार से गति और इन्द्रिय मार्गणा में जीवस्थानों का विचार करने के पश्चात् अब आगे की गाथा में काय और योग मार्गणा के भेदों में जीवस्थानों का निर्देश करते हैं—

दस तसकाए चउचउ थावरकाएसु जीवठाणाइं ।
चत्तारि अट्ठ दोन्नि य कायवई माणसेसु कमा ॥२३॥

शब्दार्थ—**दस**—दस, **तसकाए**—त्रसकाय, **चउचउ**—चार-चार, **थावरकाएसु**—स्थावरकाय में, **जीवठाणाइं**—जीवस्थान, **चत्तारि**—चार, **अट्ठ**—आठ, **दोन्नि**—दो, **य**—और, **कायवई**—काय और वचन योग, **माणसेसु**—मनोयोग में, **कमा**—क्रम से ।

गाथार्थ—त्रसकाय में दस, स्थावरकाय में चार-चार और काययोग, वचनयोग और मनोयोग में अनुक्रम से चार, आठ और दो जीवस्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—कायमार्गणा और योगमार्गणा के उत्तरभेदों में जीवस्थानों के निर्देश का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'दस तसकाए' अर्थात् त्रसकाय में दस जीवस्थान हैं । त्रस नामकर्म के उदय वाले जीवों का त्रस कहते हैं और त्रस नामकर्म का उदय द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में होता है । अतः जीवस्थानों के चौदह भेदों में से एकेन्द्रिय सम्बन्धी अपर्याप्त, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय इन चार जीवस्थानों को छोड़कर शेष दस जीवस्थान त्रसकाय में होते हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—अपर्याप्त-पर्याप्त के भेद से प्रत्येक दो-दो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय । इन सबका जोड़ दस होता है ।

'चउ-चउ थावरकाएसु' अर्थात् स्थावरकायमार्गणा में चार-चार जीवस्थान जानना चाहिये । ग्रंथकार आचार्य ने विस्तार से स्थावरों के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति यह पांच भेद न

करके सामान्य से स्थावरपद में ग्रहण करके चार-चार जीवस्थान बतलाये हैं।

जिनको स्थावरनामकर्म का उदय हो उन्हें स्थावर कहते हैं और इनके सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। अतः एकेन्द्रिय में पाये जाने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त यह चार जीवस्थान स्थावरकाय के इन पांच भेदों में भी समझना चाहिये।

ग्रंथकार आचार्य ने योगमार्गणा में जीवस्थानों का विचार परस्पर निरपेक्ष अलग-अलग योगों में किया है कि केवल काययोग में अपर्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय रूप चार जीवस्थान पाये जाते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय सिर्फ काययोग वाले ही होते हैं। मनोयोगरहित वचनयोग में पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय रूप आठ जीवस्थान हैं और मनोयोग में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय ये दो जीवस्थान होते हैं।[1]

---

१ यद्यपि गाथा ६ में जीवस्थानों के योगों का निर्देश करते हुए बताया है कि पर्याप्त विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग और वचनयोग, संज्ञी पर्याप्त में सभी योग और शेष जीवों में काययोग होता है। इस प्रकार पर्याप्त चार जीवभेदों में वचनयोग, एक में मनोयोग और शेष नौ भेदों में काययोग माना है। लेकिन यहाँ काययोग में चार, वचनयोग में आठ और मनोयोग में दो जीवस्थान बतलाये हैं। इस प्रकार परस्पर विरोध है। जिसका परिहार यह है कि—पूर्व में (गाथा ६ में) लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा करके उनके क्रिया का समाप्तिकाल न होने से उसकी गौणता मान करके लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार भेदों में वचनयोग और संज्ञी अपर्याप्त में मनोयोग की विवक्षा नहीं की है। जबकि यहाँ लब्धि-पर्याप्त की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्त अवस्था में उन लब्धि-पर्याप्त जीवों के करण-पर्याप्त जीवों की तरह क्रिया का आरंभकाल और →

यद्यपि ग्रंथकार आचार्य ने वचनयोगमें आठ जीवस्थान बतलाये हैं लेकिन एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच जीवस्थान होंगे। इसका कारण यह है कि पर्याप्त अवस्था में स्वर अथवा शब्दोच्चारण संभव है, उससे पूर्व नहीं तथा वचन का सम्बन्ध भाषापर्याप्ति से है। भाषापर्याप्ति एकेन्द्रियों के होती नहीं है। उनमें आदि की चार—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तियां होती हैं और द्वीन्द्रियादि में भाषापर्याप्ति होती है। जब वे स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण कर लेते हैं, तब उनमें भाषापर्याप्ति पूर्ण हो जाने से वचनयोग हो सकता है। इसीलिए वचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पांच जीवस्थान मानना चाहिये।

योगमार्गणा के भेदों में पूर्वोक्त प्रकार से जीवस्थानों को बताने के प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिये कि केवल काययोग, वचनयोग और मनोयोग की विवक्षा होने से इस प्रकार के जीवस्थान घटित होते हैं। लेकिन सामान्यतः काययोग सभी संसारी जीवों को होने से उसमें सभी चौदह जीवस्थान पाये जायेंगे। वचनयोग में एकेन्द्रिय के चार भेदों के सिवाय दस और मनोयोग में तो संज्ञी पंचेन्द्रिय

समाप्तिकाल एक मानकर अपर्याप्त द्वीन्द्रियादिक चार में भी वचनयोग और संज्ञी अपर्याप्त में मनोयोग बताया है—

पूर्वसूत्रं लब्ध्यपर्याप्तकविवक्षातोनिष्ठाकाला प्राधान्याच्चोक्तम्, उत्तरसूत्रं तु करणापर्याप्तकानां पर्याप्तकवद्दर्शनात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्च कथञ्चिदभेदादित्यविरोध इति।

—पंचसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ३६

दिगम्बर साहित्य में मनोयोग में एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान बतलाया है—मणजोए सण्णीपज्जत्तओ दु णायव्वो।

—दि० पंचसंग्रह ४/११

पर्याप्त-अपर्याप्त यह दो जीवस्थान पाये जायेंगे। परन्तु यहाँ मनोयोग वालों को वचनयोग और काययोग की एवं वचनयोग वालों को काययोग की गौणता करके उनकी विवक्षा नहीं की है। जिससे मनोयोग में दो, वचनयोग में आठ और काययोग में चार जीवस्थान बतलाये हैं। अपर्याप्त अवस्था में वचनयोग और मनोयोग की विवक्षा उनको ये योग होने की अपेक्षा समझना चाहिये। यहाँ अपर्याप्त शब्द से करण-अपर्याप्त को ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा क्रियात्मक रूप में तो ये दो योग सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के पश्चात् ही होते हैं। तथा—

चउचउ पुमित्थिवेए सव्वाणि नपुंससंपराएसु।
किण्हाइतिगाहारगभव्वाभव्वे य मिच्छे य ॥२४॥

शब्दार्थ—**चउचउ**—चार-चार, **पुमित्थिवेए**—पुरुष और स्त्रीवेद में, **सव्वाणि**—सभी, **नपुंससंपराएसु**—नपुंसकवेद और कषायों में, **किण्हाइतिग**—कृष्णादि तीन लेश्या, **आहारगभव्वाभव्वे**—आहारक, भव्य और अभव्य, **य**—और, **मिच्छे**—मिथ्यात्व में, **य**—और।

गाथार्थ—पुरुष और स्त्री वेद में चार-चार, नपुंसकवेद, कषाय, कृष्णादि तीन लेश्याओं, आहारक, भव्य, अभव्य और मिथ्यात्व में सभी जीवस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में वेद, कषाय, लेश्या, आहारक, भव्य और सम्यक्त्व इन पांच मार्गणा के यथायोग्य भेदों में जीवस्थानों का निर्देश किया है।

वेदमार्गणा—सर्वप्रथम वेदमार्गणा के तीन भेदों में से स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन दो भेदों में जीवस्थानों को बतलाया है—'चउ-चउ पुमित्थिवेए'—पुरुषवेद और स्त्रीवेद में अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप चार-चार जीवस्थान होते हैं। अर्थात् पुरुषवेद में प्राप्त चार जीवस्थानों के जो नाम हैं वही चार

नाम स्त्रीवेद में पाये जाने वालों के भी हैं। यहाँ अपर्याप्त का मतलब करण-अपर्याप्त है, लब्धि-अपर्याप्त नहीं, क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त को तो नपुंसकवेद ही होता है।

यद्यपि सिद्धान्त में असंज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों जीव भेदों में मात्र नपुंसक वेद बताया है[1] और यहाँ कार्मग्रंथिकों ने स्त्री और पुरुष ये वेद माने हैं। लेकिन इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से और कार्मग्रंथिकों का कथन द्रव्यवेद की अपेक्षा से है। अर्थात् भाव से तो इनमें नपुंसकवेद होता है और यहाँ पुरुषवेद और स्त्रीवेद उनमें मात्र स्त्री और पुरुष लिंग का आकार होने के आधार से बताया है।

नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोतलेश्या, आहारक, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि तथा च शब्द से संगृहीत असंज्ञि इन तेरह मार्गणाओं में सभी चौदह जीवस्थान होते हैं। इन तेरह मार्गणाओं में सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते हैं कि सभी प्रकार के जीवों में इन तेरह मार्गणाओं गत आंतरिक भाव संभव हैं। तथा—

तेउलेसाइसु दोन्नि संजमे एक्कमट्ठमणहारे।
सण्णी सम्मंमि य दोन्नि सेसयाइं असंनिम्मि ॥२५॥

शब्दार्थ—**तेउलेसाइसु**—तेजो आदि तीन लेश्याओं मे, **दोन्नि**—दो, **संजमे**—संयम में, **एक्कं**—एक, **अट्ठं**—आठ, **अणहारे**—अनाहारक में,

---

१ तेणं भंते। असन्निपंचेन्दियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, नपुंसगवेयगा ?

गोयमा ! नोइत्थिवेयगा नोपुरिसवेयगा, नपुंसगवेयगा।

—भगवती।

सण्णी—संज्ञी, **सम्मंमि**—सम्यक्त्व में, **य**—और, **दोन्नि**—दो, **सेसयाइं**—शेष, **असंनिम्मि**—असंज्ञी में।

गाथार्थ—तेजो आदि तीन लेश्याओं में दो, संयम में एक, अनाहारक में आठ, संज्ञी और सम्यक्त्व में दो और असंज्ञी में शेष रहे जीवस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में लेश्यामार्गणा के भेद तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्याओं तथा संयम, अनाहारक, संज्ञी, सम्यक्त्व मार्गणाओं में संभव जीवस्थानों का निर्देश किया है।

कृष्णादि तीन भेदों से शेष रहे लेश्या के तेज, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ भेदों में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान होते हैं—'तेउलेसाइसु दोन्नि'। यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तकों के तो कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं तथा गाथा के उत्तरार्ध में आगत 'य-च' शब्द से अनुक्त अर्थ का समुच्चय करके यह आशय ग्रहण करना चाहिये कि करण-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों को भी तेजोलेश्या पाई जाती है। इस दृष्टि से तेजोलेश्या में बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान संभव होने से कुल मिलाकर तीन जीवस्थान प्राप्त होते हैं।

बादर एकेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या इस अपेक्षा से मानी जाती है कि जब कोई भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान देवलोक के देव[1] जिनमें तेजोलेश्या संभव है, मरकर बादर पर्याप्त पृथ्वी, जल या वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं

---

१ किण्हानीलाकाऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइस सोहम्मीसाणि तेऊलेसा मुणेयव्वा॥

—बृहत्संग्रहणी पत्र ८१

भवनपति और व्यंतर देवों के कृष्ण आदि चार लेश्यायें होती हैं किन्तु →

तब कुछ काल तक अपर्याप्त (करण-अपर्याप्त) अवस्था में उनको तेजोलेश्या होती है।[1] क्योंकि यह सिद्धान्त है —

जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ।

अर्थात् जिन लेश्यापरिणामों में जीव का मरण होता है, उन्हीं लेश्यापरिणामों से भवान्तर में उत्पन्न होता है। जिससे बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और प्रत्येक वनस्पति जीवों के अपर्याप्त अवस्था में कुछ समय तक तेजोलेश्या पाये जाने से तेजोलेश्यामार्गणा में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी के अतिरिक्त बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त रूप तीसरा भी जीवस्थान माना जाता है।

पद्म और शुक्ल लेश्या के परिणाम संज्ञी के सिवाय दूसरे जीवों में न होने के कारण इन दो लेश्याओं में अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान हैं।

'संजमे एक्कं' अर्थात् सामायिक आदि संयममार्गणा के पांच भेदों तथा देशविरतमार्गणा कुल छह भेदों में पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप एक ही जीवस्थान होता है। इसका कारण यह है कि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में सर्वविरति और देशविरति संयम धारण करने की योग्यता नहीं होती है।

अनाहारक मार्गणा में आठ जीवस्थान होते हैं—'अट्ठमणहारे'। जिनके नाम इस प्रकार हैं—अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी तथा अपर्याप्त

ज्योतिष और सौधर्म-ईशान देवलोक में तेजोलेश्या ही होती है।

१ पुढवीआउ वणस्सइ गब्भे पज्जत्तसंखजीवेसु।
सग्गचुयाणंवासो सेसापडिसेहिया ठाणा॥

—बृहत्संग्रहणी पत्र ७७

पृथ्वी, जल, वनस्पति और संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज पर्याप्तकों में ही स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानों में नहीं।

सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

सब प्रकार के अपर्याप्त जीव अनाहारक उस समय होते हैं, जिस समय वे विग्रहगति में एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं।[1] लेकिन पर्याप्त संज्ञी को अनाहारक इस अपेक्षा से माना जाता है कि केवली भगवान केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कार्मण काययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करते हैं।[2]

'सण्णी सम्मंमि य दोन्नि' अर्थात् संज्ञीमार्गणा तथा क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वमार्गणाओं में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान होते हैं। क्योंकि अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी होने से संज्ञीमार्गणा में संज्ञीद्विक जीवस्थानों के सिवाय अन्य कोई जीवस्थान संभव नहीं हैं। अतः यही दो जीवस्थान होते हैं तथा क्षायिक आदि सम्यक्त्वत्रिक में यही दो जीवस्थान मानने का कारण यह है कि जो जीव आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, वह उस बद्ध आयु के अनुसार चारों गतियों में से किसी भी गति में जन्म ले सकता है। इसी अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्व अपर्याप्त-अवस्था में माना जाता है। इसी प्रकार

---

१ उत्पत्तिस्थान की वक्रता से जन्मान्तर ग्रहण करने के लिए जाते हुए किसी छद्मस्थ जीव को विग्रहगति में एक, दो या तीन विग्रह (घुमाव) करना पड़ते हैं। इसी अपेक्षा से एक, दो या तीन समय तक अनाहारक दशा संभव है—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः। तत्त्वार्थसूत्र २ | ३०

२ कार्मण शरीर योगी तृतीयके पंचमे चतुर्थे च।
समयत्रये य तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्॥

—प्रशमरति, २७७

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अपर्याप्त-अवस्था में मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थंकर आदि जब देवगति से च्युत होकर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते हैं तब वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित होते हैं। इस प्रकार क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान होते हैं तथा औपशमिक सम्यक्त्व के लिए यह समझना चाहिये कि आयु पूर्ण हो जाने पर जब कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें गुणस्थान में मरण करके अनुत्तर विमान में पैदा होता है तब अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्वमार्गणा में भी दो जीवस्थानों का निर्देश करने पर जिज्ञासु पूछता है—

प्रश्न—क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित भवान्तर में जाना संभव होने से इन दोनों सम्यक्त्वों में तो संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त यह जीवस्थान माना जा सकता है, परन्तु औपशमिक सम्यक्त्व में संज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान कैसे घटित होगा ? क्योंकि अपर्याप्त-अवस्था में तद्योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से कोई भी नया सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। कदाचित् यह कहा जाये कि अपर्याप्त-अवस्था में भले ही नया सम्यक्त्व उत्पन्न न हो, परन्तु क्षायिक, क्षायोपशमिक की तरह परभव से लाया हुआ अपर्याप्त-अवस्था में हो तो उसका निषेध कौन कर सकता है ? परन्तु यह कथन भी अयोग्य है। क्योंकि जो मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वगुणस्थान में तीन करण करके औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह जब तक हो तब तक कोई जीव मरण नहीं करता है और आयु को भी नहीं बांधता है। जैसा कि आगमों में कहा है—

अणबंधोदयमाउगबधं कालं च सासणो कुणइ।
उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमेकंपि न कुणइ॥

अर्थात् सासादनसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी का बंध, अनन्तानुबधी का उदय, आयु का बंध और मरण इन चार कार्यों को करता है,

किन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि इन चारों में से एक भी कार्य नहीं करता है।

कदाचित् यह कहा जाये कि उपशमश्रेणि का उपशमसम्यक्त्व अपर्याप्त-अवस्था में होता है, तो यह कथन भी योग्य नहीं है। क्योंकि उपशमश्रेणि पर आरूढ जीव यदि वहाँ मरण कर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होता है तो उसको देवायु के पहले समय में सम्यक्त्वमोहनीय के पुद्गलों का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। जैसा कि शतकचूर्णि में संकेत किया है—

जो उवसमसम्मदिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढम समए चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मदिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ त्ति।

अर्थात् जो उपशमसम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणि में मरण को प्राप्त होता है, वह प्रथम समय में ही सम्यक्त्वमोहनीय पुंज को उदयावलिका में लाकर वेदन करता है, जिससे उपशम सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नहीं होता है। यानि अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार उपशम सम्यक्त्वमार्गणा में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त यही एक जीवस्थान संभव है, परन्तु अपर्याप्त संज्ञी जीवस्थान घटित नहीं होता है।

उत्तर—उपर्युक्त कथन संगत नहीं है। क्योंकि सप्ततिका की चूर्णि में जहाँ गुणस्थानों में नामकर्म के बंध और उदय स्थानों का विचार किया गया है, वहाँ चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान के उदयस्थानों के विचार के प्रसंग में पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकों की अपेक्षा बताये हैं। उनमें नारकों को क्षायिक और वेदक—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बताया है, किन्तु देवों

को तीनों प्रकार के सम्यक्त्व वाला कहा है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

'पणवीस सत्तावीसोदया देव नेरइए पडुच्च। नेरइगो खइगवेयग-सम्मदिट्ठी, देवो तिविह सम्मदिट्ठी वि।'

अर्थात्—पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकों की अपेक्षा होते हैं, उनमें नारक क्षायिक और वेदक सम्यग्दृष्टि और देव तीनों (क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक) सम्यक्त्व वाले होते हैं। इन दोनों उदयस्थानों में से पच्चीस प्रकृतिक-उदयस्थान शरीरपर्याप्ति के निर्माण समय में और सत्ताईस-प्रकृतिक उदयस्थान शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त और शेष पर्याप्तियों से अपर्याप्त को होता है। इस प्रकार यह दोनों उदयस्थान अपर्याप्त अवस्था में होने से यहां भी अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व को ग्रहण किया है। तत्त्व तो केवलज्ञानीगम्य है।[1]

---

१ दिगम्बर साहित्य में उपशमश्रेणिभावी—उपशम सम्यक्त्व जीवों को अपर्याप्त अवस्था में होता है इसी मत को माना है—

विदियुवसमसम्मत्तं सेढी दो दिण्णि अविरदादीसु।
सग सग लेस्सायरिदे देव अपज्जत्तगेव हवे॥

—गो० जीवकांड, गाथा ७२६

उपशमश्रेणि से उतरकर अविरत आदि गुणस्थानों को प्राप्त करने वालों में से जो जीव अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार मरण करके देव पर्याय को प्राप्त करता है, उसी को अपर्याप्त अवस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व (उपशमश्रेणिभावी होता) है।

ग्रंथकार आचार्य ने इसी अपेक्षा से संभवतः सम्यक्त्व में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान माने हों। लेकिन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा जीवस्थानों का विचार किया जाये तो एक संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान होगा। क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय आयुबंध, मरण आदि नहीं होता है। जैसाकि ऊपर कहा है—'अणबंधोदयमाउग' इत्यादि।

'सेसायाइं असंनिम्मि'—अर्थात् पूर्वोक्त पर्याप्त और अपर्याप्त संज्ञी के सिवाय शेष रहे बारह जीवस्थान असंज्ञी मार्गणा में पाये जाते हैं। क्योंकि संज्ञित्व और असंज्ञित्व का भेद पंचेन्द्रिय जीवों में ही पाया जाता है, लेकिन शेष बारह जीवस्थान असंज्ञी जीवों के ही होते हैं। इसलिए असंज्ञी मार्गणा में बारह जीवस्थान समझना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेष रही ज्ञानादि मार्गणाओं में जितने जीवस्थान संभव है, उनका प्रतिपादन करते हैं—

दुसु नाणदंसणाइं सव्वे अन्नाणिणो य विन्नेया।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्वं ॥२६॥

शब्दार्थ—**दुसु**—दोनों में, **नाणदंसणाइं**—ज्ञान और दर्शन, **सव्वे**—सभी, **अन्नाणिणो**—अज्ञानियों को, **य**—और, **विन्नेया**—जानना चाहिए, **सन्निम्मि**— संज्ञी में, **अयोगि**—अयोगि, **अवेइ**—अवेदी, **एवमाइ**—इत्यादि, **मुणेयव्वं**—समझना चाहिए।

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन दो जीवस्थानों में और अज्ञान सभी जीवस्थानों में जानना चाहिए। अयोगि, अवेदी इत्यादि भाव संज्ञी में समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञान और दर्शन मार्गणा के भेदों में जीवस्थानों का विचार करने के प्रसंग में एक सामान्य नियम का निर्देश करते हुए संज्ञी जीवस्थान की विशेषता बतलाई है।

मतिज्ञान आदि पाँच भेदों के साथ मति-अज्ञान आदि तीन को मिलाने से ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हैं। अर्थात् ज्ञान मार्गणा के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग मतिज्ञानादि पांच सम्यक्ज्ञानों का और दूसरा वर्ग मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानों—मिथ्याज्ञानों का है। यही बात चक्षुदर्शन आदि दर्शनों के लिए भी समझना चाहिए। यदि वे मिथ्यात्व-

सहकृत हैं तो मिथ्यादर्शन कहलायेंगे और सम्यक्त्व सहित हैं तो सम्यग्दर्शन। इन दोनों में जीवस्थानों के विचार का प्रमुख सूत्र यह है कि 'दुसु नाणदंसणाइं'—ज्ञान—सम्यग्ज्ञान और दर्शन—सम्यग्दर्शन दो जीवभेदों—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त में संभव है, अन्य जीवभेदों में संभव नहीं है, लेकिन 'सव्वे अन्नाणिणो' अर्थात् अज्ञान में सभी चौदह जीवस्थान हो सकते हैं।

अब संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान की विशेषता बतलाते हैं कि अयोगित्व, अवेदित्व और 'आइ'— आदि शब्द से इनके ही समकक्ष अलेश्यत्व, अकषायत्व, अनिन्द्रियत्व आदि भाव मात्र 'सन्निम्मि' संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में ही संभव हैं, शेष में नहीं। परन्तु यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि ये सब भाव मनुष्यगति में ही प्राप्त हो सकेंगे, अन्यत्र सम्भव नहीं है।

संज्ञी पर्याप्त जीवस्थान में अयोगित्व आदि भावों की प्राप्ति का संकेत करने पर जिज्ञासु पूछता है कि—

प्रश्न—सूक्ष्म, बादर योग के बिना अयोगित्व में संज्ञीपना कैसे घट सकता है। अर्थात् जब अयोगि दशा में योग ही नहीं है तो फिर संज्ञी कहे जाने का क्या आधार है ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि सयोगिकेवलि की तरह द्रव्यमन का सम्बन्ध होने से अयोगि को भी संज्ञी व्यपदेश होता है।[1] जैसा कि सप्ततिकाचूर्णि में कहा है—

मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो मन्नंति।

केवली को भी मनकरण— द्रव्यमन होने से संज्ञी कहा जाता है। अर्थात् द्रव्यमन की अपेक्षा रखकर अयोगिदशा में संज्ञित्व मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।[2]

---

१ केवली भगवान 'नो संज्ञी नो असंज्ञी' कहलाते हैं। जिसका स्पष्टीकरण गाथा ३२ में किया गया है।

२ दिगम्बर साहित्य में भी अयोगिकेवली अवस्था में द्रव्यमन के सम्बन्ध से →

अब पूर्व गाथा के विवेचन का विस्तार से विचार करते हैं—

दोमइसुयंओहिदुगे एकं मणनाण केवल विभंगे ।
छ तिगं व चक्खुदंसण चउदस ठाणाणि सेस तिगे ॥२७॥

शब्दार्थ—**दो**—दो, **मइसुयओहिदुगे**—मति, श्रुत और अवधिद्विक में, **एकं**—एक, **मणनाणकेवलविभंगे**—मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और विभंग-ज्ञान में, **छ**—छह, **तिगं**—तीन, **व**—अथवा, **चक्खुदंसण**—चक्षुदर्शन, **चउदस**—चौदह, **ठाणाणि**—जीवस्थान, **सेस तिगे**—शेष तीन में ।

गाथार्थ—मति, श्रुत और अवधिद्विक में दो जीवस्थान होते हैं । मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और विभंगज्ञान में एक तथा चक्षुदर्शन में तीन अथवा छह और शेष रहे अज्ञानत्रिक में सभी चौदह जीवस्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा में किये गये सामान्य निर्देश के अनुसार अब ज्ञान और दर्शन मार्गणा के अवान्तर आठ और चार भेदों में पृथक-पृथक जीवस्थानों को बतलाते हैं ।

'दोमइसुयओहिदुगे'—अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओं में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी

संज्ञित्व माना है—

मणसहियाणं वयणंदिट्ठं तप्पुव्वमिदिसजोगम्हि ।
उत्तो मणो वयरिणिंदिय णाणेण हीणम्हि ॥

—गोम्मटसार जीवकांड २२७

छद्मस्थ मनसहित जीवों का वचन प्रयोग मनपूर्वक होता है । इसलिए इन्द्रियज्ञान से रहित केवली भगवान में भी उपचार से मन माना जाता है । इसलिए केवली के अयोगि होने पर भी उनको संज्ञी कहते हैं ।

पंचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान होते हैं । इसका कारण यह है कि ये मतिज्ञान आदि सम्यक्त्वसापेक्ष हैं और सम्यक्त्व संज्ञी में होता है, असंज्ञी में नहीं । जिससे मति-श्रुतज्ञान आदि का असंज्ञी में होना असम्भव है तथा कोई-कोई जीव जब मति आदि तीनों ज्ञानों सहित जन्म ग्रहण करते हैं, उस समय उन जीवों के अपर्याप्त अवस्था में भी मति, श्रुत, अवधिद्विक होते हैं । इसीलिए मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक–अवधिज्ञान,अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओं में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान माने जाते हैं ।

'एकं मणनाणकेवलविभंगे' अर्थात् मनपर्यायज्ञान, केवलद्विक–केवलज्ञान, केवलदर्शन और विभंगज्ञान मार्गणाओं में पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप एक जीवस्थान होता है । यहाँ विभंगज्ञान में जो पर्याप्त संज्ञी रूप एक जीवस्थान बताया है, वह तिर्यंच, मनुष्य और असंज्ञी नारक की अपेक्षा समझना चाहिए । क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों को अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय में से जो रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनका असंज्ञी नारक ऐसा नामकरण किया जाता है, उनको भी अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के बाद उत्पन्न होता है । इसी अपेक्षा से विभंगज्ञान में संज्ञी पर्याप्त रूप एक जीवस्थान बताया है । लेकिन सामान्यापेक्षा विचार किया जाये तो विभंगज्ञान मार्गणा में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दोनों जीवस्थान हो सकते हैं । क्योंकि संज्ञी तिर्यंच, मनुष्यों में से उत्पन्न होते देव नारकों को अपर्याप्त अवस्था में भी विभंगज्ञान उत्पन्न होता है ।[1]

चक्षुदर्शन मार्गणा में अपर्याप्त पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार छह अथवा पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी

---

१ दिगम्बर साहित्य में विभंगज्ञान में संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त रूप एक जीवस्थान माना है ।

पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन जीवस्थान पाये जाते हैं—'छ तिगं व चक्खुदंसण ।' इन दोनों मतों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कतिपय आचार्यों का मत है कि अपर्याप्त अवस्था में भी चक्षुदर्शन हो सकता है। किन्तु इसके लिए इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति न बन जाये तब आंख के पूर्ण न बनने से चक्षुदर्शन हो ही नहीं सकता है।

इस कथन का सारांश यह है कि अपर्याप्त अवस्था में इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद यदि शेष पर्याप्तियों से अपर्याप्त भी हो तो ऐसे अपर्याप्त को चक्षुदर्शनोपयोग हो सकता है। अतः उनके मतानुसार तो पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार चक्षुदर्शन मार्गणा में छह जीवस्थान घटित होंगे।

लेकिन जो इस मत को स्वीकार नहीं करते अर्थात् पर्याप्त अवस्था में ही चक्षुदर्शनोपयोग मानते हैं, उनके मतानुसार पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन जीवस्थान चक्षुदर्शन मार्गणा में माने जायेंगे। इस मत को मानने वालों का दृष्टिकोण यह है कि चक्षुदर्शन आंख वालों के ही होता है और आंखें चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन तीन प्रकार के जीवों के पर्याप्त अवस्था में ही होती हैं। इसके सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में चक्षुदर्शन का भी अभाव है। अतएव चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान मानना चाहिये।

इन दोनों मतों के मंतव्यों का दिग्दर्शन कराने के लिये ग्रंथकार आचार्य ने गाथा में 'व' शब्द दिया है।[1]

---

१ चक्षुदर्शन में तीन और छह जीवस्थान मानने का कारण इन्द्रिय पर्याप्ति की दो व्याख्यायें हैं—

→

'चउदस ठाणाणि सेस तिगे'--अर्थात् पूर्वोक्त से शेष रहे ज्ञान और दर्शन मार्गणा के तीन भेदों—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन--में चौदह जीवस्थान होते हैं। मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान तो सभी प्रकार के जीवों में संभव होने से माने जा सकते हैं। लेकिन अचक्षुदर्शन में भी सब जीवस्थान मानने पर जिज्ञासा होती है कि अचक्षुदर्शन में जो सात अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण न हुई हों, वैसी अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण

(अ) इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा धातुरूप में परिणत आहार पुद्गलों में से योग्य पुद्गल इन्द्रियरूप से परिणत किये जाते हैं। यह व्याख्या प्रज्ञापना वृत्ति में है। जिसके अनुसार स्वयोग्य संपूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के बाद ही इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। अपर्याप्त अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षु होने पर भी उसका उपयोग नहीं होता है। अतः चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान होते हैं।

(आ) इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा योग्य आहार-पुद्गलों को इन्द्रियरूप में परिणत करके इन्द्रियजन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है। यह व्याख्या बृहत्संग्रहणी तथा भगवती वृत्ति की है। जिसके अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। यानी इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करली हो किन्तु स्वयोग्य अन्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न भी की हों ऐसे जीव को चक्षुदर्शन हो सकता है। इस अपेक्षा से चक्षुदर्शन में छह जीवस्थान माने जाते हैं।

दिगम्बर आचार्यों ने चक्षुदर्शन में छह जीवस्थान माने हैं—

'चक्षुदर्शने चतुरिन्द्रियाऽसंज्ञि पर्याप्ताऽपर्याप्ताः षढ। अपर्याप्तकालेऽपि चक्षुर्दर्शनस्य क्षयोपशमसद्भावात्, शक्त्यपेक्षया वा षड्धा जीवसमासा भवन्ति।

—पंचसंग्रह ४/१७ टीका

होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, यह मान कर। अर्थात् इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद के अपर्याप्तों अथवा इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले के अपर्याप्तों को ग्रहण किया किया है।

यदि प्रथम पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के बाद स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों तो उस स्थिति में सभी जीवस्थान अचक्षुदर्शन में माने जा सकते हैं। लेकिन दूसरा पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है तो इस पक्ष में यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय नहीं होने से उस अवस्था में अचक्षुदर्शन कैसे माना जा सकता है ?

इसका समाधान यह है—अचक्षुदर्शन कोई एक इन्द्रियजन्य दर्शन नहीं है, वह नेत्र इन्द्रिय के सिवाय अन्य किसी भी इन्द्रियजन्य दर्शन है। जिससे वह शक्ति रूप अथवा द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय दोनों रूपों में अथवा भावेन्द्रिय रूप में होता है। इसी से अचक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे दोनों अवस्थाओं में माना जा सकता है। जिससे अचक्षुदर्शन में सभी जीवस्थान माने जाने में किसी प्रकार का विवाद नहीं है।

सासादनसम्यक्त्व मार्गणा में अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय ये छह और सातवाँ संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त कुल मिलाकर सात जीवस्थान होते हैं। इनमें छह अपर्याप्त और एक पर्याप्त जीवस्थान है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय को छोड़कर अन्य छह प्रकार के जीवस्थान इसलिए माने जाते हैं कि जब कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्व को छोड़ता हुआ बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञीपंचेन्द्रिय में जन्म लेता है, तब उसके अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है। किन्तु कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करते हुए सूक्ष्म एकेन्द्रिय में पैदा नहीं होता है।

तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव पर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व वाला नहीं होता है। क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले जीव संज्ञी ही होते है दूसरे नहीं। इसलिए सासादन सम्यक्त्व मार्गणा में सात जीवस्थान माने जाते हैं।[1]

मिश्र सम्यक्त्वमार्गणा में एक संज्ञी पंचेंन्द्रियपर्याप्त जीवस्थान होता है। क्योंकि संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के सिवाय अन्य जीवों में तथाविध परिणामों की योग्यता नहीं होने से मिश्र-दृष्टि सम्यग्मिथ्यात्व—नहीं होती है।

इस प्रकार से मार्गणास्थानों के बासठ उत्तर भेदों में जीवस्थानों कथन समझना चाहिए।[2] अब वर्ण्य विषयों में से शेष रहे मार्गणा स्थानों में गुणस्थानों को बतलाते हैं।

मार्गणास्थानों में गुणस्थान—

सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे।
इगिविगलेसु जुयलं सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥२८॥

---

१ यहाँ जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि को सासादनसम्यक्त्व का अधिकारी कहा है, वे करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नहीं। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त जीव तो मिथ्यात्वी ही होते हैं।

दिगम्बर आचार्यों ने सासादनसम्यक्त्व में सात के सिवाय आठ व दो जीवस्थान भी माने हैं।

सासणसम्मे सत्त अपज्जत्ता होंति सण्णि-पज्जत्ता।

पंचसंग्रह ४/१६ की टीका

२. दिगम्बर कर्मग्रंथों में प्राप्त मार्गणास्थानों में जीवस्थानों का विचार परिशिष्ट में देखिये।

शब्दार्थ—**सुरनारएसु**—देव और नारकों में, **चत्तारि**—चार, **पंच**—पाँच, **तिरिएसु**—तिर्यंचों में, **चोद्दस**—चौदह, **मणूसे**—मनुष्यों में, **इगि-विगलेसु**—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में, **जुयलं**—युगल (दो), **सव्वाणि**—सभी, **पणिंदिसु**—पंचेन्द्रियों में, **हवंति**—होते हैं।

गाथार्थ—देव और नारकों में चार, तिर्यंचों में पाँच, मनुष्यों में चौदह गुणस्थान होते हैं तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में दो और पंचेन्द्रियों में सभी (चौदह) गुणस्थान जानना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा में गति मार्गणा के चार और इन्द्रिय मार्गणा के पाँच भेदों में प्राप्त गुणस्थानों को बतलाया है।

देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य यह गति मार्गणा के चार भेद हैं। उनमें से 'सुरनारएसु चत्तारि'—देव और नारकों में आदि के मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि ये चार गुण-स्थान होते हैं। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयम धारण करने की शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होने के कारण देव और नारक स्वभाव से ही विरति रहित होते हैं। इसलिए इन दोनों गतियों में प्रथम चार गुणस्थान माने जाते हैं।

'पंच तिरिएसु'—तिर्यंच गति में आदि के पाँच गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत होते हैं। क्योंकि जातिस्वभाव से तिर्यंचगति में सर्वविरति तो संभव नहीं, किन्तु देशविरति संयम का पालन किया जा सकता है और आगे के छठे आदि गुणस्थान सर्वविरति के ही होते हैं और सर्वविरति का धारण-पालन सिर्फ मनुष्य गति में हो सकता है। इसीलिए तिर्यंच-गति में आदि के पांच गुणस्थान माने जाते हैं।

तिर्यंचगति में पाँच गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में इतना विशेष समझना चाहिए कि गर्भज तिर्यंचों में सम्यक्त्व और देशविरति

योग्य परिणाम हो सकते हैं। युगलिक तिर्यंचों के आदि के चार ही गुणस्थान होते हैं और औपशमिक आदि तीन सम्यक्त्वों में से किसी भी प्रकार का सम्यक्त्व संभव है और संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच में क्षायिक के सिवाय शेष दो सम्यक्त्व और देशविरति तक के पाँच गुणस्थान संभव हैं।

मनुष्यगति में सभी प्रकार के परिणाम संभव होने से सब गुणस्थान पाये जाते हैं—'चोद्दस मणूसे'।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन चार इन्द्रिय मार्गणा के भेदों में युगल—मिथ्यात्व, सासादन यह दो गुणस्थान पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि अज्ञान के कारण तत्वश्रद्धाहीन होने से मिथ्यात्वगुणस्थान तो सामान्यतः इन सभी जीवों में पाया जाता है और सासादनगुणस्थान इनकी अपर्याप्त अवस्था में होता है। क्योंकि एकेन्द्रिय आदि की आयु का बंध हो जाने के बाद जब किसी को औपशमिक सम्यक्त्व होता है तब उसका त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्व सहित एकेन्द्रिय आदि में जन्म लेता है तो अपर्याप्त अवस्था में कुछ काल के लिए दूसरा सासादनगुणस्थान भी पाया जाता है।[1]

पंचेन्द्रिय मार्गणा में सभी चौदह गुणस्थान संभव है। क्योंकि पंचेन्द्रियों में मनुष्यों का समावेश होने से, उनमें सभी भाव पाये जाते हैं—'सव्वाणि पणिंदिसु हवंति'।

इस प्रकार गति मार्गणा के चार और इन्द्रियमार्गणा के पांच, कुल नौ भेदों में गुणास्थान बतलाने के बाद अब काय आदि मार्गणाओं में गुणस्थानों का निर्देश करते हैं—

---

१ पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले लब्धिपर्याप्त करण-अपर्याप्तकों को करण अपर्याप्त अवस्था में सासादनगुणस्थान संभव है। लब्धि-अपर्याप्तकों को मात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

सव्वेसु वि मिच्छो वाउतेउसुहुमतिग पमोत्तूणं ।
सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि ॥२६॥

शब्दार्थ—**सव्वेसुवि**—सभी जीवों में, **मिच्छो**—मिथ्यात्व, **वाउतेउ सुहुममिगं**—वायु, तेज और सूक्ष्मत्रिक को, **पमोत्तूणं**—छोड़कर, **सासायणो**—सासादन, **उ**—और, **सम्मो**—सम्यक्त्व, (अविरतिसम्यग्दृष्टि) **सन्निदुगे**—संज्ञीद्विक में, **सेस**—शेष, **सन्निम्मि**—संज्ञी में ।

गाथार्थ—मिथ्यात्वगुणस्थान तो सभी जीवों में होता है। सासादन गुणस्थान वायुकाय, तेजस्काय और सूक्ष्मत्रिक को छोड़कर शेष सभी जीवों में तथा अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान संज्ञीद्विक में और शेष गुणस्थान संज्ञी जीवों में होते हैं।

विशेषार्थ—कायमार्गणा के छह भेदों में गुणस्थान बतलाने के प्रारम्भ में एक सामान्य सूत्र कहा है—

'सव्वेसुवि मिच्छो'—अर्थात् पृथ्वीकाय आदि त्रसपर्यन्त सभी जीवों में सामान्यतया मिथ्यादृष्टिगुणस्थान होता है।

अब दूसरे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के तेरह गुणस्थानों का निर्देश करते हैं कि—वायुकायिक, तेजस्कायिक और सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त नामकर्म के उदयवाले जीवों को छोड़कर शेष लब्धि—पर्याप्त और करण—अपर्याप्त जीवों एवं संज्ञीपर्याप्त जीवों में सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पाया जाता है। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म, साधारण नामकर्म के उदयवाले एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सासादन भावसहित आकर जन्म ग्रहण नहीं करता है।

'सम्मो सन्निदुगे'—संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त इन दोनों प्रकार के जीवों में अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान होता है और इनसे शेष रहे गुणस्थान अर्थात् मिश्रदृष्टि और देशविरति से लेकर अयोगिकेवलि पर्यन्त गुणस्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के होते हैं।

अतएव प्रत्येक मार्गणा में यथायोग्य गुणस्थानों की योजना स्वबुद्धि से कर लेना चाहिये। तथा—

जा बायरो ता वेएसु तिसु वि तह तिसु य संपराएसु।
लोभंमि जाव सुहुमो छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ॥३०॥

शब्दार्थ—**जा**–जब तक, **बायरो**–बादर, **ता**–तब तक, **वेएसु**–वेदों में, **तिसु**–तीन, **वि**–भी, **तह**–तथा, **तिसु**–तीनों में, **य**–और, **संपराएसु**–कषायों में, **लोभंमि**–लोभ में, **जाव**–तक, **सुहुमो**–सूक्ष्मसंपराय, **छल्लेसा**–छह लेश्या, **जाव**–तक, **सम्मोत्ति**–अविरत सम्यग्दृष्टि।

गाथार्थ—जब तक बादर कषायें हैं तब तक के गुणस्थान तीन वेद और तीन कषायों में होते हैं। अर्थात् तीन वेद और तीन कषायों में बादरसंपराय तक के गुणस्थान होते हैं। लोभ में सूक्ष्म संपराय तक के और छह लेश्याओं में अविरतसम्यग्दृष्टि तक के गुणस्थान पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में वेद, कषाय और लेश्या मार्गणा के कमशः तीन, चार और छह भेदों में गुणस्थानों का निर्देश किया है।

वेदमार्गणा के पुरुष, स्त्री और नपुंसक तथा कषायमार्गणा के क्रोध, मान और माया इन तीन-तीन भेदों में जब तक बादर कषायें (तीव्र शक्ति वाली कषायें) रहती हैं, वहाँ तक के गुणस्थान समझ लेना चाहिए। बादर कषायों का उदय पहले मिथ्यात्व से लेकर अनिवृत्तिबादरसंपराय नामक नौवें गुणस्थान तक रहता है। अतः पहले से लेकर नौवें तक के नौ गुणस्थान वेदत्रिक और कषायत्रिक में समझना चाहिए।[1]

---

१ वेद के तीन भेदों में नौ गुणस्थान द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं किन्तु भाववेद की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि वेद देशघाती है और वह सर्वघाती कषायों के क्षयोपशम से प्राप्त गुण का घात नहीं करता है। परन्तु सर्व- →

उदय की अपेक्षा इनमें गुणस्थानों के विचार का कारण यह है कि नौवें गुणस्थान के अंतिम समय में तीन वेद और क्रोधादि तीन संज्वलन कषाय या तो क्षीण हो जाती हैं या उपशांत, इस कारण आगे के गुणस्थानों में इनका उदय नहीं रहता है। परन्तु सत्ता की अपेक्षा इन छहों मार्गणाओं में गुणस्थानों का विचार किया जाये तो ग्यारहवें उपशांतमोहगुणस्थान तक इनकी सत्ता पाये जाने से ग्यारह गुणस्थान होंगे।

इसी प्रकार 'लोभंमि जाव सुहुमो'—लोभ (संज्वलन लोभ) का उदय भी दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान तक रहता है। अतएव उदय की अपेक्षा इसमें दस गुणस्थान होंगे और सत्ता तो ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है।

कृष्णादि छह लेश्याओं में पहले से लेकर चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं—'छल्लेसा जाव सम्मोत्ति'।

लेश्या मार्गणा के छह भेदों में यह गुणस्थानों का कथन सामान्य से किया गया है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे की गाथा में करते हैं।

अपुव्वाइसु सुक्का नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाणं।
मीसोएगो चउरो असंजयासंजया सेसा ।।३१।।

शब्दार्थ—**अपुव्वाइसु**—अपूर्वकरणादि में, **सुक्का**—शुक्ल लेश्या, **नत्थि**—नहीं होती है, **अजोगिम्मि**—अयोगि में, **तिन्नि**—तीन, **सेसाणं**—शेष गुण-

---

घाती कषायों के उदय से युक्त उसका उदय चारित्र का घात करता है। वेद के तीव्र, मंद आदि असंख्य भेद होते हैं। उनमें के कितने ही मंद भेद ऊपर के गुणस्थान में भी प्रतीयमान होते हैं किन्तु अत्यन्त मंद होने से गुण के बाधक नहीं होते हैं।

स्थानों में, **मीसो**—मिश्र में, **एगो**—एक, **चउरो**—चार, **असंजया**—असंयत में, **संजया**—संयत में, **सेसा**—शेष गुणस्थान ।

गाथार्थ—अपूर्वकरणादि में शुक्ललेश्या होती है। अयोगि में एक भी लेश्या नहीं होती है और शेष गुणस्थानों में तीन लेश्यायें होती हैं। मिश्र में एक, असंयत में चार और शेष गुण-स्थान संयत के होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में पृथक्-पृथक् लेश्याओं में गुणस्थानों का और उत्तरार्ध में मिश्रसम्यक्त्व मार्गणा एवं संयम, असंयम के भेद से संयममार्गणा में गुणस्थानों का कथन किया है।

सर्वप्रथम लेश्या-भेदों में गुणस्थान बतलाते हैं कि 'अपुव्वाइसु सुक्का'—अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में शुक्ललेश्या होती है और 'नत्थि अजोगिम्मि'—अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी लेश्या नहीं है। क्योंकि जहाँ तक योग हो वहीं तक लेश्या होती है, किन्तु इस गुण-स्थान में योग का अभाव है।

शेष रहे देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत में तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। देशविरतादि को ये तीन शुभ लेश्यायें देशविरति और सर्वविरति[1] को प्राप्त करने के समय होती हैं और उनकी प्राप्ति होने के बाद छह लेश्यायें संभव हैं। इसका कारण यह है कि देशविरत आदि ये तीन गुणस्थान सम्यक्त्व-मूलक विरतिरूप हैं और इनकी प्राप्ति तेज, आदि शुभ लेश्याओं के समय होती है, कृष्णादि अशुभ लेश्याओं के समय नहीं होती है। तो

---

१ यहाँ सर्वविरति शब्द से प्रमत्तसंयत नामक छठा गुणस्थान ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि अप्रमत्तविरत में तो सदैव तीन शुभ लेश्यायें होती है। इस प्रकार लेश्यामार्गणा के छह भेदों में छह गुणस्थान संभव हैं।

भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणामशुद्धि में कुछ न्यूनता आने पर अशुभ लेश्यायें भी आ जाती हैं।[1]

लेकिन कृष्णादि छहों लेश्याओं में पृथक्-पृथक् गुणस्थानों का विचार किया जाये तो कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओं में आदि के छह गुणस्थान होते हैं। इनमें से पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं, जिन की प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्यायें होती हैं और देशविरत, प्रमत्तविरत ये दो गुणस्थान सम्यक्त्वमूलक होने से प्राप्ति के समय शुभ लेश्यायें होती हैं किन्तु तत्पश्चात पारिणामिक शुद्धि में न्यूनता के कारण अशुभलेश्या भी आने से पाँचवाँ और छठा गुणस्थान माने जाते हैं।[2]

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में आदि के सात गुणस्थान होते हैं। इसका कारण यह है कि ये दोनों लेश्यायें सातों गुणस्थानों को प्राप्त करने के समय और प्राप्ति के पश्चात् भी रहती हैं।

शुक्ललेश्या में मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में योग न रहने से लेश्या का अभाव है।

---

१ (क) सम्मत्तसुयं सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं।
पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए॥
—आव० निर्युक्ति ८५२

—सम्यक्त्व की प्राप्ति सब लेश्याओं में होती है, किन्तु चारित्र की प्राप्ति पिछली तीन लेश्याओं में होती है और चारित्र प्राप्त होने के बाद छह में से कोई लेश्या हो सकती है।

(ख) सम्यक्त्व देशविरति सर्वविरतीनांप्रतिपत्ति कालेषु शुभलेश्यात्रयमेव, तदुत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपीति।
—पंचसंग्रह, मलय टीका पृ० ४०

२ कहीं-कहीं कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं में जो पहले चार गुणस्थान माने जाते हैं, वे गुणस्थानों की प्राप्ति की अपेक्षा से समझना चाहिये कि उक्त-लेश्याओं के समय आदि के चार गुणस्थानों के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार विशेषता से लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब शेष रही मार्गणाओं के भेदों में गुणस्थान बतलाते हैं कि–

मनोयोग, वचनयोग और काययोग मार्गणाओं में अयोगिकेवली को छोड़कर पहले मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं।[1] क्योंकि चौदहवें सयोगिकेवलिगुणस्थान में किसी प्रकार का योग न रहने से योग मार्गणा में आदि से तेरह गुणस्थान माने जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा के भेद मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मार्गणाओं में चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। क्योंकि सम्यक्त्व-प्राप्ति के पूर्व तीन गुणस्थानों में मति आदि अज्ञान रूप होते हैं और अंतिम दो गुणस्थानों में क्षायिक उपयोग होने से इनका अभाव हो जाता है। इसीलिये मति आदि तीन ज्ञानों में अविरतसम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान माने जाते हैं।

---

१ मनोयोग आदि में गुणस्थानों का उक्त कथन सामान्य से किया है। उनके अवान्तर भेदों में गुणस्थान इस प्रकार जानना चाहिये—

१. सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन, असत्यामृषावचन, औदारिक काययोग इन पांच योगों में मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान हैं।

२. असत्यमन, मिश्र मन, असत्यवचन, मिश्रवचन इन चार में आदि के बारह गुणस्थान होते हैं।

३. औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां ये चार गुणस्थान होते हैं।

४. वैक्रिय काययोग में आदि के सात और वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा ये पांच गुणस्थान हैं।

५. आहारक काययोग में छठा, सातवां ये दो और आहारकमिश्र काययोग में सिर्फ छठा गुणस्थान होता है।

मनपर्याय ज्ञान मार्गणा में प्रमत्तसंयत नामक छठे से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थान हैं। यद्यपि मनपर्यायज्ञान की प्राप्ति तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में होती है, किन्तु मनपर्यायज्ञानी प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान तक पाये जाने से सात गुणस्थान माने हैं।[1]

केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओं में सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान होते हैं। क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों क्षायिक भाव हैं और क्षायिक भाव वे कहलाते हैं, जो तदावरणकर्म के निःशेषरूपेण क्षय होने से सदा-सर्वदा के लिये निरावरण होकर एकरूप रहते हैं। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षय बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय में होता है, तब तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इसीलिए केवलद्विक में सयोगि और अयोगि केवली अंतिम दो गुणस्थान माने जाते हैं।

अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान ज्ञानमार्गणा के इन तीन भेदों में मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र ये तीन गुणस्थान होते हैं। लेकिन सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाये तो वहाँ सासादन को ज्ञानरूप माना है। अतः अज्ञानत्रिक में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान बतलाया है। यह तीन गुणस्थान मानना कार्मग्रंथिकों के

---

१ देव और नारकों को स्वभावगत विशेषता से तथा तिर्यंच एकदेश चारित्र का पालन करने वाले होने से मनपर्यायज्ञान को प्राप्त नहीं करते हैं। मनुष्यों में भी सर्वविरति का पालन करने पर मनपर्यायज्ञान सभी को नहीं होता है किन्तु उन्हीं को पाया जाता है जो कर्मभूमिज, संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, गर्भज, सम्यग्दृष्टि, सर्वविरति और प्रवर्धमान चारित्र वाले हैं।

मत से है और इसमें भी भिन्नता है। कुछ एक कार्मग्रंथिक आचार्यों ने आदि के दो गुणस्थान और कुछ एक ने तीन गुणस्थान माने हैं। एतद्विषयक दोनों का दृष्टिकोण यह है—

अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का मत है कि यद्यपि तीसरे मिश्रगुणस्थान के समय शुद्ध सम्यक्त्व—यथार्थ विषय-प्रतिपत्ति—न हो किन्तु उस गुणस्थान में मिश्रदृष्टि होने से कुछ न कुछ यथार्थ ज्ञान की मात्रा रहती है। क्योंकि मिश्रदृष्टि में जब मिथ्यात्व का उदय अधिक प्रमाण में हो तब तो अज्ञानांश अधिक और ज्ञानांश अल्प रहता है, किन्तु जब मिथ्यात्व का उदय मंद हो और सम्यक्त्व पुद्गलों का उदय तीव्र रहता है तब ज्ञान की मात्रा अधिक और अज्ञान की मात्रा अल्प होती है। इस प्रकार मिश्रदृष्टि की कैसी भी स्थिति हो, किन्तु उसमें अल्पाधिक प्रमाण में ज्ञान संभव होने से उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना उचित है। अतः अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान मानना चाहिये।[1]

अज्ञानत्रिक में आदि के तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का मन्तव्य है—

तीसरे गुणस्थान के समय यद्यपि अज्ञान को ज्ञान मिश्रित कहा है, लेकिन मिश्रज्ञान को ज्ञान मानना उचित नहीं है, अज्ञान ही मानना चाहिये। क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्वविहीन सभी ज्ञान अज्ञान ही हैं। यदि सम्यक्त्वांश के कारण तीसरे गुणस्थान में ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मान लिया जाये तो दूसरे गुणस्थान में भी सम्यक्त्व का अंश होने से ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना पड़ेगा। लेकिन यह इष्ट नहीं है। अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान मानने वाले भी दूसरे गुणस्थान में मति आदि को अज्ञान मानते हैं। इसलिये

---

१ दिगम्बर आचार्यों ने अज्ञानत्रिक में पहले दो गुणस्थान माने हैं।

सासादन की तरह मिश्र गुणस्थान में भी मति आदि को अज्ञान मानकर अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानना चाहिये।

यहाँ अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानने के मत को स्वीकार किया गया है।

दर्शनमार्गणा के तीन भेदों—चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन में पहले मिथ्यात्व से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। वे इस अभिप्राय से माने हैं कि ये तीनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं और क्षायोपशमिक भाव बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं और क्षायिक भावों के उत्पन्न होने पर क्षायोपशमिक भावों का अभाव हो जाता है। उन दोनों का साहचर्य नहीं रहता है।

सिद्धान्त में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन का भेद विवक्षा से वर्णन कर अवधिदर्शन में पहले से लेकर बारहवें पर्यन्त बारह गुणस्थान माने हैं अर्थात् अवधिज्ञानी की तरह विभंगज्ञानी को भी अवधिदर्शन माना है। तत् सम्बन्धी आगम पाठ का सारांश इस प्रकार है—

हे भगवन् ! अवधिदर्शन रूप अनाकार उपयोग वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

गौतम ! ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं उनमें कोई तीन ज्ञान वाले और कोई चार ज्ञान वाले हैं। जो अज्ञानी हैं वे मतिअज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी समझना चाहिए (भगवती ८/२)।

सिद्धान्त के उक्त कथन का आशय यह है कि विभंगज्ञान और अवधिदर्शन दोनों में भेद है, अभेद नहीं है। इसी कारण विभंगज्ञानी में अवधिदर्शन माना जाता है। सिद्धान्त के मतानुसार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में विभंगज्ञान सम्भव है, दूसरे आदि में नहीं। इसलिए दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान में विभंगज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर पहले से बारह गुणस्थान मानना चाहिए। क्योंकि अवधिज्ञानी

और विभंगज्ञानी के दर्शन में अनाकारता का अंश समान है, इसीलिये विभंगज्ञानी के दर्शन का विभंगदर्शन ऐसा अलग नाम न रखकर एक अवधिदर्शन रखा है।

इसी सिद्धान्त पक्ष को स्वीकार करके यहाँ अवधिदर्शन में आदि के बारह गुणस्थान माने हैं। लेकिन कुछ कार्मग्रंथिक आचार्य पहले तीन गुणस्थानों में अवधिदर्शन नहीं मानकर चौथे से बारहवें तक नौ गुणस्थानों में और कुछ विद्वान तीसरे से बारहवें तक दस गुणस्थानों मानते हैं। इस मतभिन्नता का कारण है—पहले तीन गुणस्थानों में और आदि के दो गुणस्थानों में अज्ञान मानना। यद्यपि ये दोनों प्रकार के कार्मग्रंथिक आचार्य अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते हैं परन्तु विभंगज्ञान से अवधिदर्शन का उपयोग अलग नहीं मानते हैं। इसके लिए उनकी युक्ति है कि जैसे विभंगज्ञान से विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वयुक्त अवधिदर्शन से भी नहीं होता है। इस अभेद विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे से बारह तक और दूसरे मत के अनुसार तीसरे से बारह गुणस्थान तक अवधिदर्शन माना जाता है।[1]

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणा और देशविरतचारित्रमार्गणा में अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान है। क्योंकि तीसरा गुणस्थान मिश्रदृष्टिरूप और पाँचवाँ देशविरतिरूप है। अविरति मार्गणा में आदि के चार गुणस्थान--मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत-

---

१ चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानने का पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा २६ तथा सर्वार्थसिद्धि टीका में निर्दिष्ट है—'अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीन क्षीणकषायन्तानि।' तथा तीसरे से बारहवें तक दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानने का पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा ७०-७१ में बताया है। गोम्मटसार जीवकांड में भी दोनों पक्षों का संकेत गाथा ६८१ और ७०५ में है।

सम्यग्दृष्टि—होते हैं। क्योंकि आगे के गुणस्थान पाँचवें आदि सब गुणस्थान विरतिरूप हैं।

अब संयम मार्गणा के सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त पाँच भेदों में गुणस्थान बतलाते हैं। सामान्य नियम यह है कि इनका पालन संयत मुनि करते हैं और उनकी प्राप्ति सर्वसंयम सापेक्ष है परन्तु भेदों की अपेक्षा उनमें पाये जाने वाले गुणस्थान इस प्रकार समझना चाहिए —

सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र मार्गणा में छठे प्रमत्त-संयत से लेकर नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान तक चार गुणस्थान हैं। क्योंकि ये सरागसंयम होने से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं पाये जाते हैं। परिहारविशुद्धिचारित्रमार्गणा में छठा और सातवां ये दो गुण-स्थान हैं। इसका कारण यह है कि परिहारविशुद्धि संयम के रहने पर श्रेणि आरोहण नहीं किया जा सकता है और श्रेणि का आरोहण आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। इसलिये इसमें छठा, सातवाँ गुणस्थान समझना चाहिये। सूक्ष्मसंपराय चारित्र में स्वनाम वाला एक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पाया जाता है। क्योंकि दसवां गुणस्थान सूक्ष्मसंपराय है। इसीलिये इसमें अपने नाम वाला एक गुणस्थान कहा है। यथाख्यातसंयममार्गणा में अंतिम चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि मोहनीय कर्म का उदयाभाव होने पर यह चारित्र प्राप्त होता होता है और मोहनीय कर्म का उदयाभाव ग्यारहवें उपशांतमोह गुण-स्थान से लेकर चौदहवें अयोगिकेवलिगुणस्थान तक रहने से यथा-ख्यात चारित्र में अंतिम चार गुणस्थान माने जाते हैं। तथा—

अब्भव्विएसु पढमं सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु।
सन्नीसु बार केवलि नो सन्नी नो असण्णी वि ॥३२॥

शब्दार्थ—**अब्भव्विएसु**—अभव्यों में, **पढमं**—पहला, **सव्वाणियरेसु**—इतर (भव्यों) में सभी, **दो**—दो, **असन्नीसु**—असंज्ञियों में, **सन्नीसु**—

संज्ञियों में, बार—बारह, केवलि—केवलज्ञानी, सोरसी—नो संज्ञी, नो—असण्णी—नो असंज्ञी, वि—भी।

गाथार्थ—अभव्यों में पहला, भव्यों में सभी, असंज्ञियों में दो और संज्ञियों में बारह गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञानी नो संज्ञी नो असंज्ञी हैं।

विशेषार्थ—गाथा में भव्य और संज्ञी मार्गणा के भेदों में गुणस्थान बतलाये हैं।

भव्य मार्गणा के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। इनमें से पहले अभव्य भेद में गुणस्थानों को बताया है कि 'अब्भव्विएसु पढमं'—अभव्यों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। अभव्यों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान इसलिये माना जाता है कि वे स्वभावतः ही सम्यक्त्व-प्राप्ति की योग्यता वाले नहीं है और सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना दूसरा आदि आगे के गुणस्थान संभव नहीं हैं, लेकिन 'सव्वाणियरेसु'—अभव्य से इतर—प्रतिपक्षी अर्थात् भव्य मार्गणा में सभी प्रकार के परिणाम संभव होने से सभी गुणस्थान—पहले मिथ्यात्व के लेकर अयोगि-केवली पर्यन्त चौदह गुणस्थान संभव हैं।

संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी इन दो भेदों में से असंज्ञी में आदि के दो गुणस्थान होते हैं—'दो असन्नीसु'। इसका कारण यह है कि पहला मिथ्यात्वगुणस्थान तो सामान्यतः सभी असंज्ञी जीवों को होता है और दूसरा सासादनगुणस्थान लब्धि-पर्याप्त को करण-अपर्याप्त अवस्था में पाया जाता है। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सासादन भाव सहित आकर उत्पन्न नहीं होता है। इसी-लिये असंज्ञी मार्गणा में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान माने जाते हैं।

संज्ञी मार्गणा में अंतिम दो—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों को छोड़कर शेष पहले से बारह तक बारह गुणस्थान होते हैं—'सन्नीसु बार'। क्योंकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली संज्ञी नहीं

कहलाते हैं परन्तु द्रव्यमन का उनके साथ सम्बन्ध है इसलिये असंज्ञी भी नहीं कहा जा सकता है। इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ग्रंथकार आचार्य ने गाथा में पद दिया है—'केवलि नोसन्नी नो असन्नी वि'। इसी मंतव्य का समर्थन सप्ततिकाचूर्णि से भी होता है—

'मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति'। मणोविन्नाणं पडच्चते सन्निणो न हवंति त्ति।'

अर्थात् केवली भगवान के मनकरण—द्रव्यमन है, जिससे वे संज्ञी कहलाते हैं, किन्तु मनोविज्ञान की अपेक्षा वे संज्ञी नहीं हैं।

केवली भगवान को नोसंज्ञी, नोअसंज्ञी कहने के उक्त कथन का सारांश यह है कि मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उनके द्वारा विचार करती हुई आत्माएँ संज्ञी कहलाती हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होने से मनोवर्गणा द्वारा विचारकर्तृत्व नहीं है परन्तु केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर अन्य क्षेत्र में रहे हुए मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देवों का उत्तर देने के लिये मनोवर्गणाओं को ग्रहण करते हैं, जिससे उनमें द्रव्यमन है भावमन नहीं हैं। भावमन नहीं होने के कारण संज्ञी भी नहीं कहा जा सकता है, किन्तु द्रव्यमन होने से संज्ञी भी कहा जायेगा। सारांश यह है कि बारहवें गुणस्थान तक मनोवर्गणाओं का ग्रहण और उनके द्वारा मनन परिणाम भी होता है, जिससे वे संज्ञी कहलाते हैं। इसीलिये संज्ञीमार्गणा में आदि के बारह गुणस्थान माने गये हैं।[1] तथा—

अपमत्तु वसन्त अजोगि जाव सव्वेवि अविरयाइया।
वेयग-उवसम-खाइयदिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥३३॥

---

१ भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा केवलिद्विक गुणस्थानों को संज्ञी मानने पर संज्ञीमार्गणा में चौदह गुणस्थान भी माने जा सकते हैं।

शब्दार्थ—**अपमत्त**—अप्रमत्तसंयत, **उवसन्त**—उपशांतमोह, **अजोगि**—अयोगिकेवली, **जाव**—तक, **सव्वेवि**—सभी, **अविरयाइया**—अविरत से प्रारंभ करके, **वेयग-उवसम-खाइइदिट्ठी**—वेदक (क्षायोपशमिक) उपशम और क्षायिक सम्यग्दृष्टि में, **कमसो**—क्रम से, **मुणेयव्वा**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—अविरत से प्रारम्भ करके अप्रमत्तसंयत, उपशांतमोह और अयोगिकेवली तक के गुणस्थान क्रम से वेदक, उपशम और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मार्गणाओं में जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में सम्यक्त्वमार्गणा के मुख्य तीन भेदों में गुणस्थान बतलाये हैं और उनमें 'अविरयाइया' अविरत से प्रारम्भ करके अनुक्रम से अप्रमत्तसंयत, उपशांतमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानों का सम्बध जोड़ने का संकेत किया है। जिसका स्पष्टीकरण के साथ विवेचन इस प्रकार है—

'अविरयाइया'—अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति की प्रारम्भिक भूमिका अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान है। इसी बात का संकेत करने के लिये ग्रंथकार आचार्य ने वेदक सम्यक्त्व आदि में गुणस्थानों की संख्या की गणना चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान से प्रारम्भ की है कि वेदक-सम्यक्त्व यानि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि यह सम्यक्त्व तभी होता है, जब सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो और श्रेणि-आरोहण के पूर्व तक रहता है। श्रेणि का प्रारंभ आठवें गुणस्थान से होता है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय उससे पूर्व के गुणस्थान—अप्रमत्तसंयत तक रहता है। इसी कारण वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक चार गुणस्थान माने जाते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थान होते हैं। इनमें चौथा आदि चार गुण-

स्थान प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय और आठवें से लेकर ग्यारहवें तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणि के समय होते हैं। इसी कारण इन दोनों प्रकार के औपशमिक सम्यक्त्व के कुल मिलाकर आठ गुणस्थान औपशमिक सम्यक्त्व में माने जाते हैं।[1]

क्षायिक सम्यक्त्व में अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व चौथे आदि गुणस्थान में प्राप्त होता है और प्राप्ति के बाद सदा के लिये रहता है। इसीलिये इसमें चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर चौदहवें अयोगिकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान माने गये हैं और गुणस्थानातीत सिद्धों में तो क्षायिक सम्यक्त्व ही पाया जाता है। मार्गणास्थानों में गुणस्थानों का निरूपण करने से यहां उसका पृथक से संकेत समझना चाहिये। तथा—

सम्यक्त्वमार्गणा के उक्त भेदों के अतिरिक्त शेष रहे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यक्त्व और मिश्रसम्यक्त्व भेदों में अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। क्योंकि पहला गुणस्थान मिथ्यात्व रूप, दूसरा सासादन रूप और तीसरा मिश्रदृष्टि रूप है। इसीलिए मिथ्यात्व आदि तीनों में अपने नामवाला एक-एक गुणस्थान बताया है। शेष रहे मार्गणास्थान भेद आहारक में गुणस्थान इस प्रकार है—

आहारगेसु तेरस पंच अणाहारगेसु वि भवंति।
भणिया जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगे भणिमो ॥३४॥

---

१ दिगम्बर साहित्य में औपशमिक सम्यक्त्व के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम यह दो भेद करके पृथक्-पृथक गुणस्थान इस प्रकार बतलाये हैं—

अयदादो पढमुवसमवेदगसम्मत्तदुगं अप्पमत्तोत्ति।

गो. जीवकांड गा. ६५४

विदियुवसमसमत्तं अविरदसम्मादि संतमोहोत्ति।

—गो. जीवकांड गा. ६५५

शब्दार्थ—**आहारगेसु**—आहारकों में, **तेरस**—तेरह, **पंच**—पांच, **अणाहारगेसु**—अनाहारकों में, **वि**—भी, **भवंति**—होते हैं, **कहिया**—कहा गया, **जोगुवयोगाण**—योगोपयोगों की, **मग्गणा**—मार्गणा, **बंधगे**—बंधक जीवों का, **भणिमो**—वर्णन करूंगा।

गाथार्थ—आहारकों में तेरह और अनाहारकों में पांच गुणस्थान होते हैं। इस प्रकार से योगोपयोगमार्गणा का कथन किया, अब (कर्म) बंधक जीवों का वर्णन करूंगा।

विशेषार्थ—गाथा में अन्तिम मार्गणा आहार के दो भेदों में गुणस्थानों का निर्देश करके अधिकार समाप्ति एवं क्रम-प्राप्त दूसरे बंधक अधिकार को प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

आहारमार्गणा के दो भेद हैं—आहारक और अनाहारक। इनमें से आहारक जीवों के अयोगिकेवलिगुणस्थान को छोड़कर शेष पहले मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं—'आहारगेसु तेरस'। क्योंकि अयोगिकेवलिगुणस्थान में किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं किये जाने से तेरह गुणस्थान ही सम्भव हैं। तथा 'पंच अणाहारगे' अनाहारकमार्गणा में पाँच गुणस्थान हैं। वे इस प्रकार—

पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, चौथा अविरतसम्यग्दृष्टि और अंतिम दो—अयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान। इनमें से पहला-दूसरा और चौथा गुणस्थान तो विग्रहगति की अनाहारक-कालीन अवस्था की अपेक्षा और तेरहवां गुणस्थान केवलिसमुद्घात के तीसरे-चौथे और पाँचवें समय में होने वाली अनाहारक दशा की अपेक्षा और चौदहवाँ गुणस्थान योगनिरोधजन्य अनाहारकत्व की अपेक्षा जानना चाहिये। चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाने से औदारिक आदि शरीरों के पोषक पुद्गलों का ग्रहण न

करने और उन-उन पुद्गलों का आगमन रुक जाने से अनाहारकत्व है।

इस प्रकार से मार्गणास्थान भेदों में गुणस्थानों का विधान जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिये प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

उक्त प्रकार से योगोपयोगमार्गणा से सम्बन्धित विषयों का वर्णन समाप्त होने पर ग्रंथकार आचार्य ने उपसंहार करने के लिये संकेत दिया है—'भणिया जोगुवयोगाणमग्गणा' अर्थात् योगोपयोमार्गणा अधिकार का तो कथन पूर्ण हुआ अब क्रम-प्राप्त बंधक अधिकार की प्ररूपणा करते हैं—'बंधगे भणिहो'।

इस प्रकार से योगोपयोमार्गणा अधिकार पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट १

योगोपयोगमार्गणा-अधिकार की मूल गाथायें

नमिऊण जिणं वीरं सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं ।
वोच्छामि पंचसंगहमेय महत्थं जहत्थं च ॥१॥
सयगाइ पंच गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता ।
दाराणि पंच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥२॥

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगा य वत्तव्वा ।
तह बंधियव्व य बंधहेयवो बंधविहिणो य ॥३॥

सच्चमसच्चं उभयं असच्चमोसं मणोवई अट्ठ ।
वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि कम्मयगं ॥४॥

अन्नाणतिगं नाणाणि पंच इइ अट्ठहा उ सागरो ।
अचक्खुदंसणाइचउहुवओगो अणागारो ॥५॥

विगलासन्नीपज्जत्तएसु लब्भंति कायवइयोगा ।
सव्वेवि सन्निपज्जत्तएसु सेसेसु काओगो ॥६॥

लद्धीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते ।
पज्जत्ते ओरालो वेउव्विय मीसगो वा वि ॥७॥

कम्मुरलदुगमपज्जे वेउव्विदुगं च सन्निलद्धिल्ले ।
पज्जेसु उरलोच्चिय वाए वेउव्वियदुगं च ॥

मइसुयअन्नाण अचक्खु दंसणेक्कारसेसु ठाणेसु ।
पज्जत्तचउपणिदिसु सचक्खु सन्नीसु बारसवि ॥८॥

इगिविगलथावरेसु न मणो दो भेय केवलदुगम्मि ।
इगिथावरे न वाया विगलेसु असच्चमोसेव ॥९॥

सच्चा असच्चमोसा दो दोसुवि केवलेसु भासाओ ।
अंतरगइ केवलिएसु कम्मयन्नत्थ तं विवक्खाए ॥१०॥

मणनाणविभंगेसु मीसं उरलंपि नारयसुरेसु ।
केवलथावरविगले वेउव्विदुगं न संभवइ ॥११॥
आहारदुगं जायइ चोद्दसपुव्विस्स इइ विसेसणओ ।
मणुयगइपंचेंदियमाइएसु समईए जोएज्जा ॥१२॥

मणुयगईए बारस मणकेवलवज्जिया नवन्नासु ।
इगिथावरेसु तिन्नि उ चउ विगले बार तससगले ॥१३॥
जोए वेए सन्नी आहारगभव्वसुक्कलेसासु ।
बारस संजमसंमे नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥

सम्मत्तकारणेहिं मिच्छनिमित्ता न होंति उवओगा ।
केवणदुगेण सेसा संतेव अचक्खुचक्खूसू ॥१५॥
जोगाहारदुगूणा मिच्छे सासायणे अविरए य ।
अपुव्वाइसु पंचसु नव ओरालो मणवई य ॥१६॥

वेउव्विणाजुया ते मीसे साहारगेण अपमत्ते ।
देसे दुविउव्विजुया आहारदुगेण य पमत्ते ॥१७॥
अज्जोगो अज्जोगी सत्त सजोगंमि होंति जोगा उ ।
दो दो मणवइजोगा उरालदुगं सकम्मइगं ॥१८॥

अचक्खुचक्खुदंसणमन्नाणतिगं च मिच्छसासाणे ।
विरयाविरए सम्मे नाणतिगं दंसणतिगं च ॥१९॥
मिस्संमि वामिस्सं मणनाणजुयं पमत्तपुव्वाणं ।
केवलियनाणदंसण उवओगा अजोगिजोगीसु ॥२०॥

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजमदंसणलेसा भवसन्निसम्म आहारे ॥२१॥

तिरियगइए चोद्दस नारयसुरनरगईसु दो ठाणा ।
एगिंदिएसु चउरो विगलपणिंदीसु छच्चउरो ॥२२॥

दस तसकाए चउ चउ थावरकाएसु जीवठाणाई ।
चत्तारि अट्ठ दोन्नि य सयलमणेसु कमा ॥२३॥

चउ चउ पुमित्थिवेए सव्वाणि नपुंससंपराएसु ।
किण्हाइतिगाहारगभव्वाभव्वे य मिच्छे य ॥२४॥

तेउलेसाइसु दोन्नि संजमे एक्कमट्ठमणहारे ।
सण्णी सम्ममि य दोन्नि सेसयाइं असंनिम्मि ॥२५॥

दुसु नाणदंसणाइं सव्वे अण्णाणिणो य विन्नेया ।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्वं ॥२६॥

दो मइसुयओहिदुगे एकं मणनाणकेवलविभंगे ।
छ तिगं व चक्खुदंसण चउदस ठाणाणि सेस तिगे ॥२७॥

सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे ।
इगि विगलेसु जुयलं सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥२८॥

सव्वेसुवि मिच्छो वाउतेउसुहुमतिगं पमोत्तूणं ।
सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि ॥२९॥

जा बायरो ता वेएसु तिसु वि तह तिसु य संपराएसु ।
लोभंमि जाव सुहुमो छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ॥३०॥

अपुव्वाइसु सुक्का नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाणं ।
मीसो एगो चउरो असंजया संजया सेसा ॥३१॥

अभव्विएसु पढमं सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु ।
सन्नीसु बार केवलि नो सन्नी नो असन्नीवि ॥३२॥

अपमत्तुवसन्तअजोगि जाव सव्वेवि अविरयाईया ।
वेयगउवसमखाइयदिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥३३॥

आहारगेसु तेरस पंच अणाहारगेसु वि भवंति ।
भणिया जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगे भणिमो ॥३४॥

परिशिष्ट : २

१

दिगम्बरसाहित्य में अपेक्षाभेद से जीवस्थानों के भेदों का वर्णन

जैन वाङ्मय में संसार के अनन्त जीवों का गुण, धर्म, स्वभाव, आकार-प्रकार, इन्द्रियों आदि की समानता की अपेक्षा वर्गीकरण किया है। लेकिन इस वर्गीकरण की अपनी-अपनी दृष्टि है और उसका कारण है—जीवमात्र में विद्यमान विशेषताओं का सुगमता से बोध कराना। इसीलिये किसी में दृश्यमान शरीर, इन्द्रियों आदि की, किसी में बाह्य शरीर आदि के साथ-साथ उनमें प्राप्त भावों की और किसी में मात्र भावों की मुख्यता है। जिनके नाम क्रमशः जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान हैं। उनमें से पहले यहाँ जीव-स्थानों के भेदों का विचार करते हैं।

जीवस्थानों के वर्गीकरण में बाह्य शरीर, इन्द्रिय आदि की अवस्थायें मुख्य हैं। इसीलिये जीवस्थान का सामान्य लक्षण बतलाया है कि जिनके द्वारा अनेक जीव एवं उनकी अनेक प्रकार की जातियां जानी जायें, अनेक जीवों का अथवा जीवों की अनेक जातियों का संग्रह किया जाये। अर्थात् त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण इन चार युगलों में से अविरुद्ध त्रसादि कर्मों से युक्त जातिनामकर्म का उदय होने पर जीवों में प्राप्त होने वाले ऊर्ध्वतासामान्य[1] रूप या तिर्यक्सामान्य[2] रूप धर्मों को जीवस्थान कहते हैं।

शास्त्रों में स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुलों के भेद, इन चार

---

१ एक पदार्थ की कालक्रम से होने वाली अनेक पर्यायों में रहने वाले समान धर्म को ऊर्ध्वतासामान्य अथवा सादृश्यसामान्य कहते हैं।

२ एक समय में अनेक पदार्थगत सादृश्य धर्म को तिर्यक्सामान्य कहते हैं।

अधिकारों के द्वारा जीवस्थानों का समग्ररूपेण विवेचन किया है। लेकिन यहाँ इन चारों में से स्थान की अपेक्षा जीवस्थानों के भेद बतलाये हैं।

जीवस्थानों के क्रमशः चौदह इक्कीस तीस बत्तीस, छत्तीस, अड़तीस, अड़तालीस, चउवन और सत्तावन भेद होते हैं। इन भेदों में चौदह भेद मुख्य हैं और अपेक्षा से भेद किये जाने पर उनके इक्कीस आदि भेद बनते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जीवस्थानों के चौदह भेद—

बादर एकेन्द्रिय	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त		=	२
सूक्ष्म एकेन्द्रिय	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त		=	२
द्वीन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
त्रीन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
चतुरिन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
					१४

जीवस्थानों के इक्कीस भेद—

बादर एकेन्द्रिय	× ३	लब्ध्यपर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त (करण-अपर्याप्त), पर्याप्त		=	३
सूक्ष्म एकेन्द्रिय	× ३	लब्ध्यपर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त (करण-अपर्याप्त), पर्याप्त		=	३
द्वीन्द्रिय	× ३	,,	,, ,,	=	३
त्रीन्द्रिय	× ३	,,	,, ,,	=	३
चतुरिन्द्रिय	× ३	,,	,, ,,	=	३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,, ,,	=	३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,, ,,	=	३
					२१

जीवस्थानों के तीस भेद—

पृथ्वीकाय	×२	बादर-सूक्ष्म	×२	अपर्याप्त-पर्याप्त		=	४
जलकाय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
तेजस्काय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
वायुकाय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
वनस्पतिकाय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
द्वीन्द्रिय	×२	अपर्याप्त-पर्याप्त				=	२
त्रीन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
चतुरिन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
संज्ञी पंचेन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
							३०

जीवस्थानों के बत्तीस भेद—

पृथ्वीकाय	×२	बादर-सूक्ष्म	×२	अपर्याप्त-पर्याप्त		=	४
जलकाय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
तेजस्काय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
वायुकाय	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
साधारण वनस्पति	×२	,, ,,	×२	,, ,,		=	४
प्रत्येक वनस्पति	×२	अपर्याप्त-पर्याप्त				=	२
द्वीन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
त्रीन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
चतुरिन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
संज्ञी पंचेन्द्रिय	×२	,, ,,				=	२
							३२

जीवस्थानों के छत्तीस भेद —

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त	=	४
जलकाय	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
तेजस्काय	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
वायुकाय	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
साधारण नित्यानगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
प्रत्येक वनस्पति	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त			=	२
द्वीन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
त्रीन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
चतुरिन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
						३६

जीवस्थानों के अड़तीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त	=	४
जलकाय	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
तेजस्काय	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
वायुकाय	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× २	,, ,,	=	४
सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त			=	२
अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	× २	,, ,,			=	२
द्वीन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
त्रीन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
चतुरिन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,, ,,			=	२
						३८

जीवस्थानों के अड़तालीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	=	६
जलकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
तेजस्काय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
वायुकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
साधारण वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
प्रत्येक वनस्पति	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त			=	३
द्वीन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
त्रीन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
चतुरिन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
						४८

जीवस्थानों के चउवन भेद—

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	=	६
जलकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
तेजस्काय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
वायुकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
प्रत्येक वनस्पति	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त			=	३
द्वीन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
त्रीन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
चतुरिन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
						५४

जीवस्थानों के सत्तावन भेद—

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	=	६
जलकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
तेजस्काय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
वायुकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	=	६
सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त			=	३
अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	× ३	,, ,, ,,			=	३
द्वीन्द्रिय	× ३	,, ,, ,,			=	३
त्रीन्द्रिय	× ३	,, ,, ,,			=	३
चतुरिन्द्रिय	× ३	,, ,, ,,			=	३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,, ,, ,,			=	३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,, ,, ,,			=	३
						५७

स्थान की अपेक्षा जीवस्थानों के भेद—

जीवस्थानों के भेदों का पूर्वोक्त एक प्रकार है। अब यदि दूसरे प्रकार से जीवस्थानों के भेदों का विचार किया जाये तो स्थान की अपेक्षा इस प्रकार भी किया जा सकता है।

सामान्य से जीवस्थान का एक भेद है। क्योंकि जीव कहने से जीवमात्र का ग्रहण हो जाता है। त्रस और स्थावर की अपेक्षा दो भेद; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा तीन भेद; यदि इनमें पंचेन्द्रिय

के संज्ञी, असंज्ञी दो भेद कर दिये जायें तो चार भेद; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय की अपेक्षा पांच भेद; पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इस प्रकार काय की अपेक्षा छह भेद; यदि उक्त छह भेदों में त्रस के सकल और विकल इस तरह दो भेद करके मिला दिये जायें तो सात भेद। इन सात भेदों में सकल के संज्ञी-असंज्ञी भेद करके मिलाने पर आठ भेद; सकल-विकल त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इस प्रकार चार भेद करके मिलाने पर नौ भेद और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इस तरह पांच भेद करके मिलाने पर दस भेद होते हैं।

पूर्वोक्त पांच स्थावरों के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा दस भेद हुए। इनमें त्रस सामान्य का एक भेद मिलाने पर ग्यारह भेद तथा इन्हीं पांच स्थावर युगलों में त्रस के विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय दो भेद मिलाने से बारह भेद और त्रस के विकलेन्द्रिय और संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार तीन भेद मिलाने से तेरह भेद और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलाने से चौदह भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच मिलाने से पन्द्रह भेद होते हैं।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छह के सूक्ष्म, बादर की अपेक्षा बारह भेद और प्रत्येक वनस्पति, इन तेरह में त्रस के विकलेन्द्रिय और संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इन तीन भेदों को मिलाने से सोलह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इन चार भेदों को मिलाने से सत्रह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी-संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन पांच भेदों को मिलाने से अठारह भेद होते हैं।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और नित्यनिगोद और इतरगतिनिगोद वनस्पति, इन छह भेदों के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा बारह भेद तथा प्रत्येक वनस्पति के प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दो भेद, कुल चौदह भेदों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन पांच भेदों को मिलाने से जीवस्थान के उन्नीस भेद होते हैं।

ये उन्नीस भेद सामान्य से हैं। इनको पर्याप्त, अपर्याप्त से गुणा करने पर अड़तीस तथा पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त से गुणा करने पर सत्तावन भेद होते हैं।

चार गतियों की अपेक्षा जीवस्थानों की संख्या इस प्रकार समझना चाहिए—

तिर्यंचगति—जीवस्थानों के उक्त सत्तावन भेदों में एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सम्बन्धी इक्यावन भेद बतलाये हैं। कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंच के तीन भेद हैं—जलचर, थलचर और नभचर। ये तीनों ही तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी होते हैं तथा गर्भज और संमूर्च्छिम होते हैं। परन्तु गर्भज तो पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त ही होते हैं और संमूर्च्छिमों में पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त तीनों ही भेद होते हैं। इसलिए संमूर्च्छिमों के अठारह भेद और गर्भजों के बारह भेद। सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यंचों के तीस भेद होते हैं। भोगभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंच के थलचर, नभचर दो ही भेद होते हैं[1] और ये दोनों ही पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त होते हैं। इसलिए भोगभूमिज तिर्यंचों के चार भेद और कर्मभूमिज तिर्यंचों के तीस भेदों को उक्त इक्यावन भेदों में मिलाने से तिर्यंचगति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवस्थान पचासी होते हैं।

मनुष्यगति—आर्यखंड में पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त तीनों ही प्रकार के मनुष्य होते हैं तथा म्लेच्छखंड, भोगभूमि, कुभोगभूमि में लब्ध्यपर्याप्त को छोड़कर दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार तीन, दो, दो, दो, कुल मनुष्यों में नौ जीवस्थान हैं।

देव नरक गति—लब्ध्यपर्याप्त के सिवाय शेष निवृत्यपर्याप्त और पर्याप्त दो-दो भेद होते हैं।

इस प्रकार तिर्यंचों के पचासी, मनुष्यों के नौ, देवों के दो, नारकों के दो, कुल मिलाकर जीवस्थानों के अवान्तर भेद अट्ठानवै होते हैं।[2]

---

१ भोगभूमि में जलचर, संमूर्च्छिम तथा असंज्ञी जीव नहीं होते हैं।

२ दिगम्बर पंचसंग्रह और गोम्मटसार जीवकाण्ड के आधार से।

२

संज्ञी-असंज्ञी सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्यगत

विवेचन

नामनिक्षेप, ज्ञान और इच्छा के भेद से संज्ञी शब्द के तीन अर्थ हैं। नामनिक्षेप व्यवहार चलाने के लिए किसी का जो नाम रख दिया जाता है—'सज्ञा नामेत्युच्यते'। जैसे राम, महावीर आदि। धारणात्मक या ऊहापोह रूप विचारात्मक ज्ञानविशेष अर्थात् नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि की इच्छा-अभिलाषा संज्ञा है—'आहारादि विषयाभिलाषा संज्ञेति'।

जीवों के संज्ञित्व-असंज्ञित्व के विचार करने के प्रसंग में संज्ञा का आशय नामनिक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रियाविशेष लिया जाता है। मानसिक क्रिया के दो प्रकार हैं—ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक-अभिलाषात्मक (आहारादि की इच्छा रूप)। इसीलिए इस दृष्टि से संज्ञा के हो भेद हैं—ज्ञान और अनुभव।

मति, श्रुत आदि पांच प्रकार के ज्ञान ज्ञानसंज्ञा हैं और आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ, लोक, मोह, धर्म, सुख, दुःख, जुगुप्सा और शोक ये अनुभवसंज्ञा के भेद हैं।

ये अनुभवसंज्ञायें न्यूनाधिक प्रमाण में सभी जीवों के पाई जाती हैं। इसलिए ये तो संज्ञी-असंज्ञी व्यवहार की नियामक नहीं हैं किन्तु ज्ञानसंज्ञा है। उसका लक्षण ऊपर बताया जा चुका है कि नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। नोइन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा आदि को ग्रहण करता है।

यद्यपि चैतन्य की अपेक्षा सभी जीव सामान्य हैं। क्योंकि चैतन्य जीव का स्वभाव-स्वरूप है परन्तु संसारी जीवों में चैतन्य के विकास की अपेक्षा

तारतम्य है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में चैतन्य का विकास क्रमशः अधिकाधिक है। इस विकास के तरतमभाव को समझने के लिए जीवों के निम्नलिखित चार विभाग किये जा सकते हैं—

(१) **अत्यल्प विकास वाले जीव**—इस विकास वाले जीव मूच्छित की तरह चेष्टारहित होते हैं। इनकी चेतना अव्यक्त रहती है। इस अव्यक्त चेतना को ओघसंज्ञा कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव ओघसंज्ञा वाले होते हैं।

(२) **कुछ व्यक्त चेतना वाले जीव**—इस विभाग में विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकाल का स्मरण किया जा सके। इस विकास में आसन्न भूतकाल का ही स्मरण किया जा सकता है, किन्तु सुदीर्घ भूतकाल का नहीं। इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति प्रवृत्ति-निवृत्ति भी होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिकारी ज्ञान को हेतुवादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। इस दृष्टि-कोण से द्वीन्द्रियादि चार त्रस जीव संज्ञी हैं और पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर असंज्ञी हैं।

(३) **सुदीर्घकालिक भूत का स्मरण और वर्तमानकालिक निश्चय**—इस विभाग में इतना विवक्षित है कि सुदीर्घकाल मे अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण और उस स्मरण द्वारा वर्तमानकाल के कर्त्तव्यों का निश्चय किया जाये। यह कार्य विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान को दीर्घ-कालोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। इस संज्ञा के फलस्वरूप सदर्थ के विचारने की बुद्धि, निश्चयात्मक विचारणा, अन्वय-व्यतिरेक धर्म का अन्वेषण-पर्यालोचन तथा भूत-वर्तमान-भविष्यकालीन कार्यपरम्परा की शृंखला का ज्ञान कि भूत में यह कार्य कैसे हुआ, वर्तमान में कैसे हो रहा है और भविष्य में कैसे होगा? इस प्रकार के विचारविमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की क्षमता प्राप्त होती है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यंच दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा वाले हैं।

(४) **विशिष्ट श्रुतज्ञान**—यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सिवाय अन्य जीवों में यह सम्भव नहीं है। इस विशिष्ट विशुद्ध ज्ञान को दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं।

शास्त्रों में संज्ञी-असंज्ञी के उल्लेख के प्रसंग में ओघ और हेतुवादोपदेशकी संज्ञा वालों को असंज्ञी और दीर्घकालोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञा वाले जीवों को संज्ञी कहा गया है । क्योंकि संज्ञा अर्थात् मनोविज्ञान और यह मनोविज्ञान रूप संज्ञा ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। अतएव मनोविज्ञान रूप संज्ञा जिनके होती है, वे संज्ञी कहलाते हैं, अन्य संज्ञी नहीं कहलाते हैं ।

दिगम्बर साहित्य में भी संज्ञी-असंज्ञी का विचार किया गया है । लेकिन उसमें कुछ अन्तर है । जैसे कि गर्भज तिर्यंचों को मात्र संज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभय रूप माना है तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों में जो हेतुवादोपदेशकी, दीर्घ-कालिकी और दृष्टिवादोपदेशकी यह तीन संज्ञा के भेद माने गये हैं, वैसे भेद दिगम्बर ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं । लेकिन तद्गत वर्णन से यह प्रति-भास अवश्य होता है कि संज्ञित्व व्यपदेश के लिये दीर्घकालोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञा के आशय को ध्यान में रखा गया है ।

३

प्रज्ञापनासूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्ति संबंधी वर्णन

'पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिरात्मनः'—विवक्षित आहारग्रहण, शरीर-निर्वृत्तनादि क्रिया करने में समर्थ करण की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। वह पुद्गल रूप है और उस-उस क्रिया की कर्ता आत्मा की करणविशेष है। जिस करणविशेष से आत्मा में आहारादि ग्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो वह करण जिन पुद्गलों से निष्पादित हो, इस प्रकार के परिणाम वाली आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल पर्याप्ति शब्द से कहे जाते हैं। जैसे कि आहार ग्रहण करने में समर्थ करण की उत्पत्ति आहारपर्याप्ति, शरीर के करण की निष्पत्ति शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय के करण की उत्पत्ति इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वास और निःश्वास के योग्य करण की उत्पत्ति श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषा के करण की उत्पत्ति भाषापर्याप्ति और मन के करण की उत्पत्ति मनपर्याप्ति कही जाती है।

कहा है—

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा की उत्पत्ति जिन पुद्गलों से होती है, उनके प्रति जो करण, वह पर्याप्ति है।

कदाचित् यह कहा जाये कि सिद्धान्त में छह पर्याप्तियां प्रसिद्ध हैं तो यहां पांच पर्याप्तियां ही क्यों कही गई हैं? तो इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय-पर्याप्ति के ग्रहण से मनपर्याप्ति का ग्रहण कर लिये जाने से पर्याप्तियों के पांच नाम कहे गये हैं।

प्रश्न—शास्त्रकार ने मन को अनिन्द्रिय कहा है तो इन्द्रियों के ग्रहण से मन का ग्रहण कैसे हो सकता है?

उत्तर— जैसे शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाले श्रोत्र आदि हैं, वैसा मन नहीं है और सुखादि को साक्षात ग्रहण करने वाला मन है, पर इन्द्रिय नहीं हैं। इसलिये मन सम्पूर्ण इन्द्रिय नहीं परन्तु इन्द्र आत्मा का लिंग होने से इन्द्रिय भी है। यहाँ जो पांच ही पर्याप्तियां कही हैं, वे बाह्यकरण की अपेक्षा से जानना चाहिए, मन अन्तःकरण है, इसलिये मनपर्याप्ति पृथक् नहीं कही है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। दोनों प्रकार से मनपर्याप्ति सम्भव है। यहाँ तैजस् और कार्मण शरीर सहित आत्मा की ही विवक्षित क्रिया की परिसमाप्ति यानी विवक्षित क्रिया करने में समर्थ करण की उत्पत्ति, यह पर्याप्ति है। औदारिक आदि शरीर की प्रथम उत्पत्ति की अपेक्षा ही यहाँ पर्याप्तियों का विचार किया है।

यह पर्याप्तियां एक साथ आरम्भ होकर अनुक्रम से पूर्ण होती हैं। क्योंकि उत्तरोत्तर पर्याप्तियां अधिक-अधिक काल में समाप्त होती हैं।

भाष्यकार के अनुसार आहारपर्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

'शरीरेन्द्रिय-वाङ्-मनः-प्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः।' शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और प्राणापान—श्वासोच्छ्वास के योग्य दलिकों-पुद्गलों के आहारण-ग्रहण क्रिया की परिसमाप्ति, वह आहारपर्याप्ति करणविशेष है। 'गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्ति, शरीरपर्याप्तिः'—सामान्य रूप में ग्रहण किये हुए पुद्गलों की शरीर रूप में संस्थापना-रचना करने की क्रिया की परिसमाप्ति को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र के टीकाकार आचार्य ने सामान्य से पर्याप्ति की व्याख्या तो की है। किन्तु किन पुद्गलों को ग्रहण करती है, यह स्पष्ट नहीं किया है। लेकिन तत्त्वार्थकार ने आहारपर्याप्ति की व्याख्या में विशेष रूप से शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने का बताया है। प्रथम समय में ग्रहण किये हुए और इसी प्रकार प्रति समय ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलों से ही जो करण की निष्पत्ति होती है वह पर्याप्तिशब्दवाच्य है। उससे यह भी प्रतीत होता है कि शरीर के योग्य पुद्गलों से शरीर-

पर्याप्ति, इन्द्रिय के योग्य पुद्गलों से इन्द्रियपर्याप्ति, भाषा के योग्य पुद्गलों से भाषापर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों से श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति और मन के योग्य पुद्गलों से मनपर्याप्ति की निष्पत्ति सम्भव है।

इन्द्रियपर्याप्ति आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

'त्वगादीन्द्रिय-निर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः'—त्वक्-स्पर्शनेन्द्रिय और आदि शब्द से रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन। अतः उनके स्वरूप को उत्पन्न करने वाली क्रिया की परिसमाप्ति इन्द्रियपर्याप्ति है।

'प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्य ग्रहण-निसर्गशक्ति निर्वर्तनक्रियापरिसमाप्ति प्राणापानपर्याप्तिः'—उच्छ्वास और निःश्वास की क्रिया के योग्य श्वासोच्छ्वास-वर्गणा के द्रव्य को ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति-सामर्थ्य को उत्पन्न करने की क्रिया की परिसमाप्ति को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार भाषापर्याप्ति का लक्षण है। वहाँ भाषायोग्य पुद्गलों के ग्रहण व छोड़ने की क्रिया जानना चाहिए।

'मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिमनःपर्याप्तिरित्येके'—मनरूप में परिणमन के योग्य मनोवर्गणा के द्रव्य को ग्रहण करने और छोड़ने की सामर्थ्य को उत्पन्न करने की क्रिया की परिसमाप्ति वह मनपर्याप्ति है—ऐसा कोई आचार्य इन्द्रियपर्याप्ति से अलग मनपर्याप्ति मानते हैं और इन्द्रियपर्याप्ति के ग्रहण द्वारा मनपर्याप्ति का ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु मनपर्याप्ति को कोई मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं यह नहीं समझना चाहिए।

'आसां युगपदारब्धानामपि क्रमेण समाप्तिः, उत्तरोत्तरसूक्ष्मतरत्वात् सूत्रदार्वादिकर्तनघटनवत्'—ये छहों पर्याप्तियां युगपत् प्रारम्भ होती हैं, परन्तु अनुक्रम से समाप्त होती हैं। अनुक्रम से समाप्त होने का कारण यह है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। जैसे कि आहारपर्याप्ति से शरीरपर्याप्ति सूक्ष्म है, क्योंकि वह बहुत से सूक्ष्म द्रव्यों के समूह से बनी हुई है, उससे इन्द्रियपर्याप्ति अधिक सूक्ष्म है, उससे भी श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति सूक्ष्म है, उससे भाषापर्याप्ति सूक्ष्म

है और उससे भी मनपर्याप्ति अधिक सूक्ष्म है। एतद्विषयक दृष्टान्त यह है—सूत कातने और काष्ठ घड़ने की तरह। मोटा सूत और बारीक सूत कातने वाली एक साथ कातना प्रारम्भ करती हैं लेकिन उनमें से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती हैं और बारीक सूत कातने वाली लम्बे समय में पूरा करती हैं। इसी प्रकार काष्ठ घड़ने में भी यही क्रम समझना चाहिए। खंभा आदि मोटी कारीगरी का काम थोड़े से समय में और यदि उसी खंभे को पत्ररचना, पुतलियों आदि सहित बनाया जाये तो लम्बे काल में तैयार होता है।

—तत्त्वार्थभाष्य ८/१२, प्रज्ञापनासूत्र

卐卐

४-५

दिगम्बर कर्मसाहित्य में जीवस्थानों में योग-उपयोग का निर्देश

श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में कुछ मतभिन्नतायें हैं, लेकिन इनकी अपेक्षा समानतायें अधिक हैं। इसका मूल कारण यही है कि दोनों का मूल स्रोत एक है। यही बात कर्मविचारणा के लिये भी समझना चाहिए। कर्म-विचारणा के प्रसंग में तो दोनों परम्परायें इतनी अधिक समानतंत्रीय हैं कि समान वर्णन, समान दृष्टिकोण देखने से यह अनुभव नहीं होता है कि यह ग्रन्थ तो अमुक परम्परा का है और यह अमुक परम्परा का। लेकिन संक्षेप या विस्तार की अपेक्षा अवश्य ज्ञात होती है।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य की तरह दिगम्बर साहित्य में भी जीवस्थानों आदि में योगोपयोग का विचार किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से उसका बोध कराने के लिये जीवस्थानों आदि में योग-उपयोग के विचारों का संक्षेप में यहाँ सारांश प्रस्तुत करते हैं।

(क) जीवस्थानों के योग --

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त-पर्याप्त आदि चौदह जीवस्थानों के नाम पूर्व में बताये गये अनुसार दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी प्राप्त होते हैं और इनको आधार बनाकर उनमें प्राप्त योगों का निर्देश किया है। सामान्य से जीवस्थानों में योगों का निर्देश इस प्रकार है—

नौ जीवस्थानों में एक योग होता है, चार जीवस्थानों में दो योग और एक जीवस्थान में चौदह योग होते हैं। ये योग अपने वर्तमान भव के शरीरों में विद्यमान जीवों में जानना चाहिए। किन्तु भवान्तरगत अर्थात् विग्रहगति वाले जीवों के केवल एक कार्मणकाययोग होता है।

उक्त कथन का विशेषार्थ यह है कि एकेन्द्रिय के चार और शेष अपर्याप्तक जीवों के पांच जीवस्थान कुल मिलाकर नौ जीवस्थानों में सामान्य से एक काययोग होता है। वह इस प्रकार कि सूक्ष्म और बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों के औदारिक काययोग तथा सूक्ष्म बादर-अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों के औदारिक-मिश्र काययोग होता है। कुछ आचार्यों के अभिप्राय से बादर वायुकायिक पर्याप्तकों के वैक्रिय काययोग और बादर वायुकायिक अपर्याप्तकों के वैक्रिय-मिश्र काययोग भी होता है और शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तों के यथायोग्य एकमात्र औदारिकमिश्र आदि काययोग होता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक इन चारों जीवस्थानों में औदारिक काययोग और असत्यामृषावचनयोग ये दो-दो योग होते है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान में चारों मनोयोग, चारों वचनयोग और सातों काययोग इस तरह पन्द्रह योग होते हैं। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के जो अपर्याप्त दशा में सम्भव औदारिकमिश्र, वैक्रिय-मिश्र और आहारकमिश्र और कार्मण काययोग बतलाये गये हैं सो इनमें से सयोगि जिन के केवलिसमुद्घात की अपेक्षा औदारिकमिश्र काययोग और कार्मण काययोग कहा गया है तथा जो औदारिक काययोगी जीव वैक्रिय और आहारक लब्धि प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और कार्मण काययोग बतलाया गया है। अन्यथा मिश्रकाययोग अपर्याप्त दशा में और कार्मण काययोग विग्रहगति में ही सम्भव है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कार्मण काययोग को छोड़कर शेष चौदह योग जानना चाहिये। कार्मण काययोग न मानने का कारण अपने वर्तमान भव के शरीर में विद्यमान जीवों में योग मानना है। यह आपेक्षिक कथन है। कार्मण काययोग भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान की अवस्थाविशेष में सम्भव है। यह कथन ऊपर किया जा चुका है। अतः पन्द्रह योग भी सम्भव हैं।

(ख) जीवस्थानों में उपयोग—

एकेन्द्रियों के बादर-सूक्ष्म और इन दोनों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक कुल चार, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय सम्बन्धी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार तथा चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक ये तीन, इस प्रकार इन ग्यारह जीवस्थानों में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन ये तीन-तीन उपयोग होते हैं। चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक इन दो जीवस्थानों में चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त तीन उपयोग इस प्रकार चार-चार उपयोग होते हैं।

मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के उपर्युक्त (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन) चार तथा सम्यग्दृष्टि संज्ञी अपर्याप्तकों के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान, अवधिदर्शन ये चार उपयोग होते हैं। इनमें अचक्षुदर्शन मिलाने से पांच भी उपयोग होते हैं। कोई-कोई आचार्य मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकों को मिलाकर मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये सात उपयोग मानते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान में बारह उपयोग होते हैं। यह कथन सामान्य से समझना चाहिये। लेकिन विशेषापेक्षा छद्मस्थ और अछद्मस्थ जीवों का भेद किया जाय तो छद्मस्थ जीवों में केवलद्विक के बिना दस उपयोग और अछद्मस्थ जीवों के सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होंगे।

□※□

६

सामायिक आदि पांच चारित्रों का परिचय

संयम और चारित्र ये दोनों समानार्थक शब्द हैं। संयम अर्थात् त्याग—सम्यक् प्रकार से विरमण, श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक सर्वथा पापव्यापार का त्याग करना संयम अथवा चारित्र कहलाता है। वह पांच प्रकार का है—

(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, (५) यथाख्यात चारित्र।

इन पांचों चारित्र भेदों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—

सामायिक - सम आय अर्थात रागद्वेष की रहितता के द्वारा आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करना, विभावदशा से स्वभाव में आना—अन्तर्मुखी दृष्टि का होना। अतएव समाय के द्वारा, रागद्वेष की रहितता द्वारा हुआ अथवा समाय होने पर होने वाला चारित्र सामायिक चारित्र है। अथवा सम् यानि सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आय अर्थात् लाभ को समाय कहते हैं और उसी का नाम सामायिक है। जितने-जितने अंश में आत्मा को सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्राप्त हो जाता है, वह सामायिक है। वह सामायिक चारित्र सर्वथा पापव्यापार के त्याग रूप है।

इस सामायिक में उपलक्षण से साधुओं की अन्य क्रियाओं का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि साधुओं की सभी क्रियायें रागद्वेष का अभाव करने रूप हैं और ये सभी क्रियायें रागद्वेष के अभाव में कारण होने से कारण में कार्य का आरोप करके साधुओं की समस्त क्रियाओं को ही रागद्वेष के अभाव रूप जानना चाहिए।

यद्यपि सभी चारित्र सर्वथा पापव्यापार का त्याग करने में कारण होने से

सामायिक रूप ही हैं फिर भी पूर्वपर्याय के छेदादि रूप विशेष के कारण छेदोपस्थापनीय आदि चारित्र पहले सामायिक चारित्र के शब्द और अर्थ की अपेक्षा पृथक् हो जाते हैं और पहले में पूर्वपर्याय का छेद आदि किसी भी प्रकार का विशेष नहीं होने से सामायिक ऐसा सामान्य नाम ही रहता है।

सामायिक के दो भेद हैं—(१) इत्वर और (२) यावत्कथित। इनमें से भरत और ऐरवत क्षेत्र में आदि और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में जिसे पंच-महाव्रतों का उच्चारण नहीं कराया गया है, ऐसे नवदीक्षित शिष्य के अल्प-काल के लिये होने वाले चारित्र को इत्वर सामायिक और दीक्षा स्वीकार करने के काल से लेकर मरण पर्यन्त के चारित्र को यावत्कथित कहते हैं। यह भरत और ऐरवत क्षेत्र के आदि और अन्तिम को छोड़कर मध्य के बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ में एवं महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के तीर्थ में विद्यमान साधुओं का समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि उनके चारित्र की उत्थापना नहीं होती है। अर्थात् उनको बड़ी दीक्षा नहीं दी जाती है। प्रारम्भ से ही उनको चार महाव्रत स्वीकार कराये जाते हैं और जीवनपर्यन्त वे उनका निरतिचार पालन करते हैं।

छेदोपस्थापनीय—जिस चारित्र में पूर्वपर्याय का छेद और महाव्रतों का स्थापन किया जाता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। गुरु जब छोटी दीक्षा देते हैं तब मात्र 'करेमि भंते' का उच्चारण कराते हैं और उसके बाद योगोद्वहन करने के बाद बड़ी दीक्षा देते हैं और उस समय पांच महाव्रतों का उच्चारण कराते हैं। जिस दिन बड़ी दीक्षा ली जाती है, उस दिन से दीक्षा-वर्ष की शुरुआत होती है और पूर्व की दीक्षापर्याय कम कर दी जाती है। यह बड़ी दीक्षा छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाती है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं—(१) सातिचार और (२) निरतिचार। इनमें से इत्वर सामायिक वाले नवदीक्षित शिष्य को जो पांच महाव्रतों का आरोपण होता है—बड़ी दीक्षा दी जाती है, वह अथवा एक तीर्थंकर के तीर्थ में से अन्य तीर्थंकर के तीर्थ में आने पर ग्रहण किया जाता है, जैसे कि भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ में से वर्धमान स्वामी के तीर्थ में आते हुए साधु

चार महाव्रत छोड़कर पांच महाव्रत स्वीकार करते हैं, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है तथा मूलगुणों का घात करने वाले साधु को पुनः जो व्रतों का उच्चारण कराया जाता है, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के ये दोनों प्रकार स्थितकल्प में होते हैं। जिस तीर्थंकर के तीर्थ में चातुर्मास और प्रतिक्रमणादि आचार निश्चित रूप में हो ऐसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थकल्प को स्थितकल्प कहते हैं।

परिहारविशुद्धि चारित्र—परिहार अर्थात् तपोविशेष। जिस तपोविशेष के द्वारा चारित्र का आचरण करने वाले के कर्म की शुद्धि हो, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) निर्विशमानक और (२) निर्विष्टकायिक। विवक्षित चारित्र की तपस्या के द्वारा आराधना करने वाले निर्विशमानक और उसकी आराधना करने वालों के परिचारक निर्विष्टकायिक कहलाते हैं।

यह परिहारविशुद्धि चारित्र पालक और परिचारक के बिना आराधित नहीं किये जा सकने के कारण उपर्युक्त नामों से जाना जाता है।

इस चारित्र को ग्रहण करने वालों का नौ-नौ का समूह होता है। उनमें से चार तपस्यादि करने के द्वारा पालन करने वाले होते हैं, चार परिचारक वैयावृत्य करने वाले और एक वाचनाचार्य होता है।

यद्यपि इस चारित्र को धारण करने वालों के श्रुतातिशय सम्पन्न होने पर भी उनका आचार होने से एक वाचनाचार्य के रूप में स्थापित किया जाता है।

निर्विशमानक की तपस्या का क्रम इस प्रकार है—

तपस्या करने वाले ग्रीष्मकाल में जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास, शीत ऋतुकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास और वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पांच उपवास करते हैं और पारणे के दिन अभिग्रह सहित आयंबिल व्रत (जिसमें विगय—घी, दूध आदि रस छोड़कर दिन में केवल एक बार अन्न खाया जाता है तथा प्रासुक पानी पिया जाता है) करते हैं।

भिक्षा के संसृष्ट, असंसृष्ट, उद्धृत, अल्पलेपिका, अवगृहीत, प्रगृहीत और उज्झित-धर्म इन सात प्रकारों में से आदि के दो प्रकार से गच्छनिर्गत साधु के आहार का ग्रहण नहीं होने से शेष पांच प्रकार से भिक्षा को ग्रहण किया जाता है और इन पांच में से भी एक के द्वारा आहार और एक के द्वारा जल इस तरह दो प्रकारों में अभिग्रह धारण किया जाता है।

इस प्रकार छह मास तक तपस्या का क्रम चलता रहता है। वाचनाचार्य और परिचारक सदा आयम्बिल करते हैं।

छह मास पर्यन्त तप करने वाले निर्विशमानक परिचारक होते हैं और परिचारक तपस्या करते हैं। अर्थात् अभी तक जो मुनि वैयावृत्य कर रहे थे, वे पूर्वोक्त विधि के अनुसार तपस्या करते हैं और तपस्या करने वाले परिचारक, वैयावृत्य करने वाले होते हैं। ये परिचारक और वाचनाचार्य आयंबिल करते हैं।

इस प्रकार से छह मास पर्यन्त पूर्व के परिचारकों के द्वारा तपस्या सम्पन्न हो जाने के अनन्तर वाचनाचार्य पूर्वोक्त प्रमाण छह मास पर्यन्त तपस्या करते हैं तथा आठ में से एक वाचनाचार्य तथा शेष सात परिचारक--वैयावृत्य करने वाले होते हैं।

इस प्रकार इस परिहारविशुद्धि चारित्र की आराधना अठारह मास में पूर्ण होती है। इन अठारह मासों में से प्रत्येक तपस्वी एक वर्ष के आयम्बिल और छह मास के उपवासों के अन्तराल में आयम्बिल करते हैं।

इस अठारह मास प्रमाण कल्प के पूर्ण होने पर आराधक पुनः इसी परिहारविशुद्धि कल्प को या जिनकल्प को स्वीकार करते हैं अथवा गच्छ में लौट जाते हैं।

इस चारित्र को तीर्थंकर से अथवा पूर्व में तीर्थंकर से स्वीकार करके आराधना करने वालों से ही ग्रहण किया जाता है, अन्य से नहीं।

इस चारित्र के अधिकारी बनने के लिये गृहस्थ पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ वर्ष तथा साधु पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० वर्ष तथा दोनों का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष माना है।

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान होता है तथा इस संयम के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा और विहार कर सकते हैं तथा शेष समय में ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करते हैं।

दिगम्बर साहित्य में इसके बारे में कुछ मतभेद है कि जन्म से लेकर तीस वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहने के बाद दीक्षा ग्रहण कर तीर्थंकर के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व का अध्ययन करने वाले इस संयम को धारण कर सकते हैं। इस संयम के धारक तीन संध्या कालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन कर सकते हैं। तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य किसी के पास से इस संयम को ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—किट्टिरूप किये गये सूक्ष्म लोभकषाय का उदय जिसके अन्दर हो, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है तथा किट्टिरूप की गई लोभकषाय के अवशिष्ट भाग का यहाँ उदय होता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र के दो भेद हैं—विशुद्धयमानक और संक्लिश्यमानक। क्षपकश्रेणि अथवा उपशमश्रेणि पर आरोहण करने पर विशुद्धयमानक होता है। क्योंकि उस समय प्रवर्धमान विशुद्धि वाले परिणाम होते हैं और उपशमश्रेणि से गिरते समय संक्लिश्यमानक होता है। क्योंकि इस समय में पतनोन्मुखी परिणाम होते हैं।

यथाख्यात चारित्र—सर्वजीवलोक में अकषाय चारित्र प्रसिद्ध है। उस प्रकार का जो चारित्र हो उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यथाख्यात चारित्र का अथाख्यात यह अपर नाम है। जिसका निरुक्तिपूर्वक अर्थ इस प्रकार है—अथ अर्थात् यथार्थ और आङ् यानी अभिविधि—मर्यादा। अतएव इस प्रकार का अकषाय रूप जो चारित्र हो वह यथाख्यात चारित्र है। इन दोनों का समान अर्थ यह हुआ कि कषायोदय से रहित चारित्र को अथाख्यात—यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं—(१) छाद्मस्थिक और (२) कैवलिक।

छाद्मास्थिक के दो प्रकार हैं—(१) क्षायिक और (२) औपशमिक। इनमें से चारित्रमोहनीय के सर्वथा क्षय से उत्पन्न हुआ क्षायिक यथाख्यातचारित्र बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में और चारित्रमोहनीय के सर्वथा उपशम से जन्य औपशमिक यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें उपशांतमोहगुणस्थान में होता है।

कैवलिक यथाख्यातचारित्र के भी दो प्रकार हैं—(१) सयोगिकेवलि-सम्बन्धी और (२) अयोगिकेवलि-सम्बन्धी। सयोगिकेवलि नामक तेरहवें गुण-स्थानवर्ती आत्माओं के चारित्र को सयोगिकेवलि यथाख्यातचारित्र तथा चौदहवें अयोगिकेवलिगुणस्थानवर्ती आत्माओं के चारित्र को अयोगिकेवलि यथाख्यातचारित्र कहते हैं।

इस प्रकार से संक्षेप में सामायिक आदि पांच चारित्रों का स्वरूप समझना चाहिये।

७

औपशमिक सम्यक्त्व-प्राप्ति विषयक प्रक्रिया का सारांश

अनन्तानुबंधि क्रोधादि कषायचतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय—मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय), इन सात प्रकृतियों के उपशम होने पर जीव की जो तत्त्वरुचि होती है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस स्थिति में मिथ्यात्व प्रेरक कर्मदलिक सत्ता में रहकर भी भस्माच्छादित अग्नि की तरह कुछ समय तक उपशांत रहते हैं, किन्तु साधन मिलने पर पुनः अपना रूप प्रकट कर देते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के दो भेद हैं—ग्रंथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी। ग्रंथिभेदजन्य को प्रथमोपशम और उपशमश्रेणिभावी को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी कहते हैं।

ग्रंथिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव को प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति सुदुर्लभ है। तत्सम्बन्धी प्रक्रिया इस प्रकार है—

अगाध गम्भीर संसार समुद्र के मध्य में वर्तमान जीव मिथ्यादर्शन मोहनीयादि हेतु से अनाम पुद्गल-परावर्तन पर्यन्त अनेक प्रकार से शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव कर अत्यन्त कठिनाई से यत्किंचित् तथाभव्यस्वभाव का परिपाक होने के कारण पर्वतीय नदी के पत्थर के गोल, चौकोर आदि होने के न्याय से कि जैसे पर्वत की नदी का पत्थर टकराते-टकराते, घिसटते-घिसटते अपने आप गोल, चौरस आदि हो जाता है, उसी प्रकार अनाभोगिक-उपयोग बिना के शुभ परिणाम रूप यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा जिसका पूर्व में भेद नहीं किया, ऐसी कर्मपरिणामजन्य तीव्र रागद्वेष परिणाम रूप कर्कश, गाढ और सुदीर्घकाल से रूढ़ गुप्त गांठ जैसी ग्रंथिदेश को प्राप्त करता है।

कर्म से उत्पन्न हुए तीव्र रागद्वेष रूप ग्रंथि तक अभव्य भी यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा अनन्ती बार आता है, परन्तु इस ग्रंथि का भेदन अर्थात् आत्मा को सम्यक्त्व प्राप्त करने के अवरोधक रागद्वेष का भेदन नहीं कर पाता है। यद्यपि अभव्य जीव भी इस यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा ग्रंथिदेश पर्यन्त आते हैं और अरिहंत आदि की विभूति को देखने अथवा इसी प्रकार की विभूति प्राप्त होने की भावना से अथवा अन्य किसी दूसरे हेतु से धर्मक्रिया में प्रवृत्ति करने से श्रुतज्ञान को प्राप्त करते हैं और कुछ अधिक नौ पूर्व तक का अभ्यास भी करते हैं; किन्तु सर्वविरति, देशविरति या सम्यक्त्व या अन्य कोई आत्मिक लाभ नहीं कर पाते हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण होने के बाद जिसको मोक्ष का सुख निकट है और उत्पन्न हुई वीर्य शक्ति का तीव्र वेग रोका न जा सके ऐसा कोई भव्य जीव महात्मा तीक्ष्ण तलवार की धार जैसी अपूर्वकरण रूप परम विशुद्धि के द्वारा उपर्युक्त स्वरूप वाली ग्रंथि का भेदन कर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। अर्थात् अपूर्वकरण द्वारा उस रागद्वेष की कर्कश गांठ के टूटने से जीव के परिणामों में अधिक विशुद्धि होने पर अनिवृत्तिकरण होता है।

रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़ने में कारणभूत अपूर्वकरण भव्य जीव को बार-बार नहीं आता है, कदाचित् ही आता है और जब आता है तब ग्रंथि का भेदन और अनिवृत्तिकरण के होने पर जीव को सम्यक्त्व का लाभ होना अवश्यम्भावी है, सम्यक्त्व प्राप्त होता ही है। इसीलिये इसको अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अनिवृत्तिकरण के असंख्यात भाग जाने के बाद एक संख्यातवां भाग बाकी रहता है, तब उदय समय से लेकर उस संख्यातवें भाग जितनी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया शुरू होती है। इस क्रिया में अन्तर्मुहूर्त काल में वेदन करने योग्य मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के पुद्गलों का अभाव होता है। इस क्रिया के द्वारा मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म की स्थिति के दो विभाग हो जाते हैं—अन्तरकरण से नीचे की

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति और अन्तरकरण से ऊपर की द्वितीय स्थिति। अन्तरकरण में के मिथ्यात्व के पुद्गलों को प्रथम और द्वितीय स्थिति में प्रक्षेप करके दूर किया जाता है और उतना वह स्थान मिथ्यात्व के पुद्गलों से पूर्ण-रूपेण रहित होता है। अब जब तक आत्मा प्रथम स्थिति का अनुभव करती है, वहाँ तक मिथ्यादृष्टि कहलाती है और उस प्रथम स्थिति के पूर्ण हो जाने पर अन्तरकरण—शुद्ध भूमि में प्रवेश करने से मिथ्यात्व का रस या प्रदेश द्वारा उदय नहीं होने से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करती है।

अनिवृत्तिकरण विषयक उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि अनिवृत्ति-करण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्रिया के द्वारा अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्वमोहनीय के दलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने योग्य कर्म-दलिकों के साथ और कुछ को अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है कि जिससे मिथ्यात्वमोहनीय का कोई दलिक नहीं रहता है। इस कारण जिसका अबाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह कि जो अनिवृत्ति-करण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्ति-करण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे विभाग को द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, उसके बाद नहीं रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है, वे सब दलिक अन्तरक्रिया के द्वारा आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं और अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

इस औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव को स्पष्ट एवं असंदिग्ध प्रतीति होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता है। इसी कारण जीव का स्वाभाविक

गुण सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्व रूप महान रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे कोई पुराने एवं भयंकर रोग से स्वस्थ होने पर अनुभव करता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व-मोहनीय के वे पुद्गल जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बनाया है उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशांताद्धा कहते हैं। उपशांताद्धा के पूर्व अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव अपने विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है—(१) सर्वविशुद्ध (सम्यक्त्व रूप), (२) अर्धविशुद्ध (सम्यग्मिथ्यात्व रूप) और (३) अशुद्ध (मिथ्यात्व रूप)। औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव क परिणामानुसार उक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक अवश्य उदय में आ जाता है। यदि परिणाम शुद्ध हैं तो सम्यक्त्व रूप सर्वविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है। जिससे सम्यक्त्व का घात नहीं होता है और उस समय प्रगट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्धविशुद्ध होने पर दूसरा अर्धविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है, जिससे जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है और परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है, तब जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

卐

८

दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों का मार्गणास्थानों में योग कथन

मार्गणा के बासठ भेदों में योगों को इस प्रकार बतलाया है—

गतिमार्गणा की अपेक्षा नारक और देवों में औदारिकद्विक – औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग तथा आहारकद्विक – आहारक और आहारकमिश्र काययोग इन चार योगों को छोड़कर शेष ग्यारह योग होते हैं। तिर्यंचों में वैक्रिय, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारक और आहारकमिश्र काययोग इन चार योगों को छोड़कर शेष ग्यारह योग तथा मनुष्यों के वैक्रियद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रियों में कार्मण काययोग और औदारिकद्विक ये तीन योग होते हैं। विकलेन्द्रिय में उपर्युक्त तीन योग तथा अन्तिम वचनयोग अर्थात् असत्यामृषा वचनयोग सहित चार योग तथा पंचेन्द्रियों में सर्व योग होते हैं।

कायमार्गणा में पृथ्वी आदि पांचों स्थावरकायिकों में कार्मण काययोग और औदारिकद्विक ये तीन योग तथा त्रसकायिकों में सभी योग होते हैं।

योगमार्गणा की अपेक्षा स्व-स्व योग वाले जीवों के स्व-स्व योग होते हैं। अर्थात् सत्यमनोयोगियों के सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोगियों के असत्यमनोयोग इत्यादि।

वेदमार्गणा की अपेक्षा पुरुषवेदियों के सभी योग होते हैं तथा स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीवों के आहारकद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं।

कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारों कषाय वाले जीवों में सभी योग पाये जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा मति, श्रुत और अवधिज्ञानी जीवों के सभी पन्द्रह योग होते हैं। मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी जीवों में आहारकद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग तथा विभंगज्ञानी जीवों के अपर्याप्तकाल सम्बन्धी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण काययोग तथा आहारकद्विक इन पांच योगों को छोड़कर शेष दस योग होते हैं। केवलद्विक अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन वाले जीवों के सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिकद्विक और कार्मण काययोग ये सात योग होते हैं।

मनपर्यायज्ञान तथा संयम मार्गणा के भेद सूक्ष्मसम्परायसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम और संयमासंयम (देशविरति) वाले जीवों के मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क और औदारिककाययोग ये नौ योग होते हैं।

संयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम वाले जीवों के चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, आहारकद्विक और औदारिक काययोग ये ग्यारह योग तथा यथाख्यातसंयम वाले जीवों के चारों मनोयोग, चारों वचन योग, औदारिकद्विक और कार्मण काययोग ये ग्यारह योग और असंयमी जीवों के आहारकद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्या वालों के आहारकद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं। तेजोलेश्या आदि तीन लेश्या वालों के सभी पन्द्रह योग पाये जाते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षुदर्शन वाले जीवों में अपर्याप्त काल सम्बन्धी तीनों मिश्रयोगों (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, कार्मण) को छोड़कर शेष बारह योग पाये जाते हैं। अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन वाले जीवों में सभी योग होते हैं।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा अभव्य जीवों के आहारकद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग तथा भव्य जीवों के सभी योग होते हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा उपशमसम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों के आहारकद्विक को छोड़कर शेष तेरह योग जानना चाहिये।

वेदक—क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवों के सभी योग और मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि वाले जीवों में अपर्याप्त कालसम्बन्धी वैक्रियद्विक और आहारकद्विक को छोड़कर शेष दस योग पाये जाते हैं।

संज्ञीमार्गणा की अपेक्षा संज्ञी जीवों के सभी योग और असंज्ञी जीवों में कार्मणकाययोग, औदारिकद्विक और अन्तिम वचनयोग (असत्यामृषावचनयोग) ये चार योग होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवों में कार्मणकाययोग को छोड़कर शेष चौदह योग पाये जाते हैं और अनाहारक जीवों में मात्र कार्मणकाययोग ही पाया जाता है।

९

दिगम्बर कर्मसाहित्य में मार्गणास्थानों में उपयोग-विचार

मतिज्ञान आदि उपयोग के बारह भेद गति आदि के क्रम से प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदों में इस प्रकार है—

गतिमार्गणा की अपेक्षा नरक, तिर्यंच और देव गति में केवलद्विक और मनःपर्याय ज्ञान इन तीन को छोड़कर शेष नौ उपयोग होते हैं। मनुष्यगति में सभी बारह उपयोग पाये जाते हैं।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों में अचक्षुदर्शन और मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान ये तीन तथा चतुरिन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शन सहित उक्त तीनों उपयोग, इस तरह कुल चार उपयोग पाये जाते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में सभी उपयोग होते हैं। लेकिन इतना विशेष है कि जिन भगवान में उपचार से पंचेन्द्रियत्व माना है, इस अपेक्षा से बारह उपयोग अन्यथा केवलद्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग जानना चाहिये।

कायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वी आदि पांचों स्थावर कायों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान ये तीन उपयोग तथा त्रसकाय में सभी उपयोग पाये जाते हैं।

योगमार्गणा की अपेक्षा प्रथम और अन्तिम मनोयोग और वचनयोग और औदारिक काययोग में सभी उपयोग होते हैं। मध्य के दो मनोयोग (असत्य, सत्यासत्य) और दो वचनयोग (असत्य, सत्यासत्य) में केवलद्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग तथा औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग में मनःपर्यायज्ञान, विभंगज्ञान और चक्षुदर्शन इन तीन को छोड़कर शेष नौ उपयोग

होते हैं। वैक्रियकाययोग में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक को छोड़कर शेष नौ उपयोग पाये जाते हैं। वैक्रियमिश्रकाययोग में केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान, विभंगज्ञान और चक्षुदर्शन इन पांच को छोड़कर शेष सात उपयोग होते हैं। आहारक और आहारकमिश्र काययोग में केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान और अज्ञानत्रिक इन छह उपयोगों को छोड़कर शेष छह उपयोग होते हैं।

वेदमार्गणा की अपेक्षा पुरुषवेद में केवलद्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में केवलद्विक और मनपर्यायज्ञान इन तीन को छोड़कर शेष नौ उपयोग होते हैं।

कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायों में केवलद्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग जानना चाहिये।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा तीनों अज्ञानों में मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक और चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग होते हैं। मति आदि प्रथम चार सम्यग्ज्ञानों में अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के बिना शेष सात उपयोग होते हैं। केवलज्ञान में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग जानना चाहिये।

संयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना और सूक्ष्मसम्पराय संयम में अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के बिना शेष सात उपयोग, परिहारविशुद्धि-संयम और देशविरतसंयम में आदि के तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि ज्ञान इस प्रकार छह उपयोग होते हैं। यथाख्यातसंयम में पांचों सद्ज्ञान और चारों दर्शन इस प्रकार नौ उपयोग होते हैं। असंयम में मनपर्याय-ज्ञान और केवलद्विक के बिना शेष नौ उपयोग होते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा आदि के दो दर्शनों में केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग होते हैं। अवधिदर्शन में केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के बिना शेष सात उपयोग और केवलदर्शन में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीनों अशुभ लेश्याओं में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक के बिना शेष नौ, तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में केवलद्विक के बिना शेष दस और शुक्ललेश्या में सभी बारह उपयोग जानना चाहिये।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य जीवों में केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग और अभव्य जीवों के अज्ञानत्रिक और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पांच उपयोग पाये जाते हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा मिथ्यात्व और सासादन सम्यक्त्व में मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक तथा चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग पाये जाते हैं। औपशमिकसम्यक्त्व में आदि के तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान ये छह उपयोग होते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व में यह छह मिश्रित उपयोग होते हैं। क्षायिकसम्यक्त्व में अज्ञानत्रिक के बिना शेष नौ उपयोग तथा वेदकसम्यक्त्व में केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के बिना शेष सात उपयोग पाये जाते हैं।

संज्ञीमार्गणा की अपेक्षा संज्ञी जीवों में केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग होते हैं। क्योंकि सयोगि अयोगि केवलियों के तो नोइन्द्रियजन्य ज्ञान का अभाव होने से संज्ञी, असंज्ञी व्यपदेश नहीं होता है। इसलिये संज्ञी जीवों में केवलद्विक उपयोग नहीं माने जाते हैं। असंज्ञी जीवों में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ये चार उपयोग होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवों में सभी बारह उपयोग तथा अनाहारक जीवों में विभंगज्ञान, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के बिना शेष नौ उपयोग होते हैं।

इस प्रकार से मार्गणाओं में उपयोगों का विचार जानना चाहिये।

●●

१८

अपूर्वकरणगुणस्थान में उत्तरोत्तर अपूर्व स्थितिबंध एवं अध्यवसाय-वृद्धि का विवेचन

पूर्व में नहीं हुए अथवा अन्य गुणस्थानों के साथ तुलना न की जा सके ऐसे स्थितिघात आदि कार्य और परिणाम जिस गुणस्थान में होते हैं, उसे अपूर्वकरणगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थितिबंध—ये पांच कार्य होते हैं। ये कार्य इससे पूर्व के गुणस्थानों में नहीं होते हैं और इन सबके कारण हैं—आध्यात्मिक अध्यवसाय। अध्यवसायों की अपूर्व शुद्धि होने पर ये स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। जिन पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

कर्मों की दीर्घ स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटाकर अल्प करने को स्थितिघात कहते हैं और इसी प्रकार अशुभ प्रकृतियों के तीव्र रस को अपवर्तनाकरण द्वारा घटाकर कम कर देना रसघात है। इसका कारण है—पूर्व की अपेक्षा यहाँ बादर कषायों का सर्वथा अभाव हो जाना। क्योंकि स्थितिबंध और अनुभागबंध की कारण कषाय है और कषायों की मंदता के कारण इस गुणस्थान में अशुभ प्रकृतियों के स्थिति और अनुभाग बंध में अल्पता आते जाने से उनका घात होना अवश्यंभावी है।

सत्ता में रहे हुए कर्मदलिकों का क्षय करने के लिये विशुद्ध अध्यवसायों के द्वारा उत्तरोत्तर उदय समय में उन कर्मदलिकों की पूर्व की अपेक्षा गुणाकार रूप से ऐसी रचना की जाती है कि आगे के समय में अधिक दलिकों का क्षय हो यह गुणश्रेणि का आशय है। इसी प्रकार सत्ता में रहे हुए अबध्यमान

अशुभ प्रकृतियों के दलिकों को बध्यमान शुभ प्रकृतियों में पूर्व पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-गुणवृद्धि से संक्रांत करना गुणसंक्रम कहलाता है।

अशुभ प्रकृतियों की वैसी अवस्था हो जाने पर भी अभी पूर्ण निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती है। अनेक अशुभ प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने पर भी शुभ प्रकृतियों का बंध होता है। लेकिन पूर्व में अशुद्ध परिणामों के होने से जिन कर्मों की दीर्घस्थिति बंधती थी उनकी इस गुणस्थान में तीव्र विशुद्धि होने से अल्प-अल्प स्थिति बंधने लगती है और वह भी पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर पल्योपम का असंख्यातवां भागहीन बंधती है। इस प्रकार का स्थितिबंध होने के कारण अध्यवसाय हैं। अतएव यहाँ अपूर्व स्थितिबंध एवं अध्यवसायों की वृद्धि के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

अपूर्व स्थितिबंध होने का क्रम अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ हो जाता है। पहले समय में जो स्थितिबंध होता है, उससे अनुक्रम से घटते-घटते उसके बाद का स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिबंध बदलता है।

इस गुणस्थान में त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा समय-समय असंख्य लोकाकाश प्रदेशप्रमाण अध्यवसायस्थान होते हैं और वे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए होते हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

जिन्होंने भूतकाल में इस गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त किया था, वर्तमान में प्राप्त करते हैं और भविष्य में प्राप्त करेंगे, उन सभी जीवों की अपेक्षा जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त अनुक्रम से प्रवर्धमान असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण अध्यवसायस्थान होते हैं। क्योंकि एक साथ इस गुणस्थान पर चढ़े हुए प्रथम समयवर्ती कितने ही जीवों के अध्यवसायों में तरतमता सम्भव है और तरतमता की यह संख्या केवलज्ञानी भगवंतों ने इतनी ही देखी है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त करने वाले त्रिकालवर्ती जीव अनन्त होने से तथा परस्पर अध्यवसायों का तारतम्य

होने से अध्यवसाय असंख्यात क्यों होते हैं। क्योंकि प्रायः समान अध्यवसाय वाले होने से जीवों की संख्या अनन्त होने पर भी अध्यवसायों की संख्या तो असंख्य लोकाकाश प्रदेशप्रमाण ही है तथा प्रथम समय में जिस स्वरूप वाले और जितने अध्यवसाय होते हैं उनसे द्वितीय समय में अन्य और संख्या में अधिक अध्यवसाय होते हैं। दूसरे समय में जो अध्यवसाय होते हैं, उनसे अन्य और अधिक तीसरे समय में होते हैं। इसी प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त समझना चाहिये।

इस गुणस्थान में पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में अध्यवसायों की वृद्धि में जीवस्वभाव ही कारण है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव प्रत्येक समय क्षयोपशम की विचित्रता के कारण विशुद्धि की प्रकर्षता से स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न अध्यवसायों में रहते हैं, जिससे पहले समय में साथ चढ़े हुए जीवों में जो अध्यवसायों की भिन्नता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में अधिक भिन्नता ज्ञात होती है। इस गुणस्थान के प्रथम समय के जघन्य अध्यवसाय से प्रथम समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है। यहाँ जघन्य अध्यवसाय इस गुणस्थान की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान के उत्कृष्ट अध्यवसाय से इस गुणस्थान का जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध होता है। पहले समय के अध्यवसाय से दूसरे समय के अध्यवसाय अलग हैं। पहले समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय से दूसरे समय का जघन्य अध्यवसाय तभी अनन्तगुण हो सकता है जब पहले समय के अध्यवसायों से दूसरे समय के अध्यवसाय अलग ही हों। उससे उसी समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है—इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये कि द्विचरम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय से चरम समय का जघन्य अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है। उससे उसी चरम समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त-गुण विशुद्ध है।

इस प्रकार एक ही समय के अध्यवसाय भी परस्पर अनन्तभागवृद्ध, असंख्यातभागवृद्ध, संख्यातभागवृद्ध, संख्यातगुणवृद्ध, असंख्यातगुणवृद्ध और अनन्तगुणवृद्ध—इस तरह छह स्थान युक्त होते हैं। जिसका अर्थ यह है कि

विशुद्धि की अपेक्षा जघन्य अध्यवसाय से कितने ही अध्यवसाय अनन्तभागवृद्ध अधिक विशुद्ध, कितने ही असंख्यातभाग अधिक विशुद्ध, कितने ही संख्यातभाग अधिक विशुद्ध, इसी प्रकार कितने ही संख्यातगुण, असंख्यातगुण और अनन्तगुण अधिक विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थान में किसी भी समय में वर्तमान अध्यवसाय षट्स्थानपतित होते हैं।

इस गुणस्थान में एक साथ चढ़े हुए जीवों के अध्यवसायों में इस प्रकार की परस्पर विशुद्धि का तारतम्य होने से अपूर्वकरणगुणस्थान का अपर नाम निवृत्ति अथवा निवृत्तिकरण भी है।

● ●

११

केवलिसमुद्घात–सम्बन्धी प्रक्रिया

जब आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घाति-कर्मों का निःशेष रूप से क्षय करके आत्मरमणता के साथ सम्पूर्ण लोकव्यापी पदार्थों को हस्तामलकवत् जानने-देखने का बोध प्राप्त कर लेती है, तब उसे केवलज्ञानी कहते हैं। लेकिन अभी भी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नामक चार अघातिकर्मों के शेष रहने के कारण अपने वर्तमान भव में रहते हुए मन-वचन-काययोगों सहित होती है, तब सयोगिकेवली कहलाती है और इस अवस्था का बोधक सयोगिकेवलीगुणस्थान है।

सयोगिकेवलियों में से जिनके आयुकर्म की स्थिति कम और वेदनीय आदि अवशिष्ट तीन अघातिकर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब आयुकर्म की स्थिति से अधिक स्थितिवाले वेदनीय आदि उन तीन कर्मों की स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये आत्मा का जो प्रयत्नविशेष होता है, उसे समुद्घात कहते हैं। इस समुद्घात का काल आठ समय प्रमाण है। इतने समय में वह आत्मा वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मों की अधिक स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर कर लेती है। जिससे आयुक्षय के साथ-साथ अवशिष्ट वेदनीय आदि तीन कर्मों का भी क्षय हो जाने पर सर्वदा के लिये निष्कर्म अवस्था को प्राप्त करके सिद्धिस्थान में रहते हुए आत्मरमणता का अनुभव करती है। संसार के कारणभूत कर्मों का निःशेषरूपेण क्षय हो जाने से पुनः संसार में नहीं आती है। अर्थात् सिद्ध होने के अनन्तर अनन्तकाल तक आत्मरमण करती रहती है।

परम आत्मरमणता ही जीवमात्र का साध्य है और उसकी सिद्धि हो जाने के बाद अन्य कुछ करना शेष नहीं रहता है।

समुद्घात में आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं और फिर उस शरीरस्थ आत्मा के आकार प्रमाण हो जाते हैं। केवली आत्मा के द्वारा यह समुद्घात रूप प्रयत्नविशेष होने से इसे केवलिसमुद्घात कहते हैं।

केवलिसमुद्घात करने वाले सभी केवली उसके पूर्व आयोजिकाकरण करते हैं। आयोजिकाकरण का अर्थ यह है कि आ-मर्यादा, योजिका-व्यापार, करण-क्रिया अर्थात् केवलि की दृष्टिरूप मर्यादा के द्वारा अत्यन्त प्रशस्त मन-वचन-काया के व्यापार को आयोजिकाकरण कहते हैं। यद्यपि केवलज्ञानसम्पन्न आत्मा के योग का व्यापार प्रशस्त ही होता है, फिर भी यहां ऐसी विशिष्ट योगप्रवृत्ति होती है कि उसके अनन्तर समुद्घात अथवा योगों के निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। आयोजिकाकरण के आवर्जितकरण और आवश्यक-करण यह दो अपर नाम है। जिनका अर्थ इस प्रकार है—

तथाभव्यरूप परिणाम के द्वारा मोक्षगमन के प्रति सन्मुख हुई आत्मा के अत्यन्त प्रशस्त योग-व्यापार को आवर्जितकरण कहते हैं और जो क्रिया अवश्य करने योग्य होती है वह आवश्यककरण है। अर्थात् अत्यन्त प्रशस्त मन, वचन और काय व्यापार रूप क्रिया अवश्य करने योग्य होती है, इसीलिये वह आव-श्यककरण कहलाती है। यद्यपि समुद्घात सभी केवली नहीं करते हैं, कुछ एक करते हैं और कुछ नहीं भी करते हैं, परन्तु यह आवश्यककरण तो सभी केवली करते हैं।

इस प्रकार का आयोजिकाकरण अथवा आवश्यककरण करने के पश्चात् जो केवलज्ञानी आत्मा अपनी आयुस्थिति से वेदनीय आदि कर्म दीर्घस्थिति वाले हों तो उन्हें सम करने के लिये समुद्घात करती है, परन्तु जिस केवली आत्मा की आयुस्थिति के साथ ही पूर्ण समाप्त होने वाले कर्म हों तो वह समुद्घात नहीं करती है।

यह समुद्घात अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि ऐसा कौनसा नियम है कि आयुकर्म से वेदनीय नाम और गोत्र कर्म ही अधिक स्थिति वाले होते हैं? परन्तु किसी भी समय

में वेदनीय आदि से आयु अधिक स्थितिवाली नहीं होती है ? तो इसका उत्तर यह है—

जीवस्वभाव ही यहाँ कारण है। आत्मा का इसी प्रकार का परिणाम है कि जिसके द्वारा वेदनीय आदि कर्म के बराबर अथवा न्यून ही आयुस्थिति होती है, किन्तु किसी भी समय वेदनीय आदि कर्म से अधिक नहीं होती है, जैसे आयुकर्म के अध्रुवबंध में जीवस्वभाव कारण है। आयुकर्म के सिवाय ज्ञानावरण आदि सातों कर्म तो प्रति समय बंधते रहते हैं, किन्तु आयु तो अपने भुज्यमान भव की आयु के तीसरे भाग, नौवें भाग आदि निश्चित काल में ही बंधती है, परन्तु प्रतिसमय नहीं बंधती है। इस प्रकार के बंध की विचित्रता के नियम में जैसे स्वभाव के सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं है, उसी प्रकार वेदनीय आदि कर्म न्यून अथवा समान आयु होने में जीवस्वभावविशेष ही कारण है, इसके सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं है।

समुद्घात करने वाली केवली आत्मा पहले समय में मोटाई में अपने शरीर-प्रमाण और ऊर्ध्वलोकान्त प्रमाण अपने आत्मप्रदेशों को दंड रूप बनाती है। दूसरे समय में अपने प्रदेशों को पूर्व-पश्चिम अथवा दक्षिण-उत्तर में कपाट रूप करती है। तीसरे समय में मंथानी रूप करती है और चौथे समय में अवशिष्ट अन्तरालों को पूर्ण करती है। जिससे सम्पूर्ण चौदह राजू लोकव्यापी आत्मा हो जाती है। इसके बाद संहरण का क्रम प्रारम्भ होता है। जिसमें पांचवें समय में अन्तरालों का, छठे समय में मंथानी का, सातवें समय में कपाट का संहरण करती है और आठवें समय में दंड का संहरण करके शरीरस्थ होती है। इस प्रकार आठ समय प्रमाण केवलिसमुद्घात होता है।

इस आठ समय प्रमाण वाले समुद्घात के पहले दंडसमय में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण जो स्थिति थी, इसके बुद्धि के द्वारा असंख्यात भाग करके उनमें का एक असंख्यातवां भाग शेष रख बाकी की असंख्यातभाग प्रमाण स्थिति का आत्मप्रदेशों को दंड रूप करती आत्मा एक साथ घात करती है और पहले तीन कर्मों के रस के अनन्त भाग कर उनमें से दंड समय में असातावेदनीय, प्रथम को छोड़कर शेष संस्थानपंचक और

सहननपंचक, अप्रशस्त वर्णादि चतुष्क, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति और नीचगोत्र रूप पच्चीस अशुभ प्रकृतियों के अनन्त भागप्रमाण रस का घात करती है और एक अनन्तवां भाग शेष रहता है।

उसी समय सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, शरीर-पंचक, अंगोपांगत्रय, प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, प्रशस्त वर्णादि चतुष्क, अगुरु-लघु, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, आतप, उद्योत, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर और उच्चगोत्र रूप उनतालीस प्रकृतियों के रस को पापप्रकृतियों के रस में प्रवेश कराने के द्वारा—संक्रमित करने के द्वारा नाश करती है। यह परिणाम समुद्घात की सामर्थ्य से होता है।

पहले समय जो असंख्यातवें भागप्रमाण स्थिति और अनन्तवें भागप्रमाण रस शेष रहा था, उसके बुद्धि द्वारा अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके उसमें से एक-एक भाग शेष रख बाकी की स्थिति के असंख्यातवें भाग और रस के अनन्त भागों को दूसरे कपाट के समय एक साथ घात करती है। यहाँ भी प्रथम समय की तरह अप्रशस्त प्रकृतियों के रस में प्रवेश कराने के द्वारा—संक्रमित कराने के द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों के रस का क्षय करती है।

दूसरे समय में क्षय होने से शेष रही हुई स्थिति और अवशिष्ट रस के पुनः बुद्धि के द्वारा अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके उसमें से एक एक भाग को शेष रख बाकी की स्थिति के असंख्यात भागों और रस के अनन्त भागों को तीसरे मंथानी के समय में एक साथ घात करती है। यहाँ भी पुण्य प्रकृतियों के रस को पाप प्रकृतियों के रस में संक्रमित करके क्षय करती है।

तीसरे समय में अवशिष्ट स्थिति के असंख्यातवें भाग और रस के अनन्तवें भाग के बुद्धि के द्वारा अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके उनमें से चौथे समय में स्थिति के असंख्यात भागों का क्षय करती है और एक भाग शेष रखती है। इसी प्रकार रस के अनन्त भागों का क्षय करती है और एक भाग शेष रखती है। पुण्य प्रकृतियों के रस का क्षय भी पूर्व की तरह ही होता है।

इस प्रकार प्रति समय स्थितिघातादि करने पर चौथे समय में अपने प्रदेशों द्वारा जिसने सम्पूर्ण लोक पूर्ण किया है, ऐसी केवलज्ञानी आत्मा को वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति अपनी आयु से संख्यात गुणी हो जाती है और रस तो अभी भी अनन्तगुण ही है।

अब चौथे समय में क्षय होने से अवशिष्ट रही स्थिति और अवशिष्ट रहे रस के बुद्धि द्वारा अनुक्रम से संख्यात और अनन्त भाग करके, उनमें का एक-एक भाग शेष रख बाकी की स्थिति के संख्यात भागों को और रस के अनन्त भागों को पांचवें अंतरों के संहरण के समय में क्षय करती है।

इस प्रकार पहले चार समय पर्यन्त प्रति समय जितनी स्थिति और रस होता है उसके अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके एक-एक भाग शेष रख बाकी के असंख्यात और अनन्त भागों का घात करती है और चौथे समय में जो स्थिति और जो रस सत्ता में होता है, उसके संख्यात और अनन्त भाग करके एक भाग शेष रख बाकी के असंख्यात और अनन्त भागों को पांचवें समय में घात करती है।

यहाँ से आगे छठे समय से लेकर स्थितिकंडक और रसकंडक का अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करती है, यानि कि पांचवें समय में क्षय होने के बाद जो स्थिति और रस की सत्ता शेष रहती है उसके अनुक्रम से संख्यात और अनन्त भाग करके प्रत्येक का एक-एक भाग शेष रख बाकी की स्थिति के असंख्यात और रस के अनन्त भागों को क्षय करने का प्रयत्न करती है। उसमें से कितना ही भाग छठे समय में और कितना ही भाग सातवें समय में इस प्रकार समय-समय में क्षय करते अन्तर्मुहूर्त काल में समस्त असंख्यात और अनन्त भागों का क्षय करती है तथा जो स्थिति और रस शेष रहता है, उसके संख्यात और अनन्त भाग कर एक भाग शेष रख बाकी के संख्यात और अनन्त भागों को अन्तर्मुहूर्त काल में क्षय करती है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में स्थितिघात और रसघात करते-करते वहाँ तक जाती है कि जब सयोगिकेवलीगुणस्थान का चरम समय आता है।

समुद्घात के छठे समय से सयोगिकेवलिगुणस्थान के चरम समय तक के काल में अन्तर्मुहूर्त काल वाले असंख्यात स्थितिघात और रसघात होते हैं और वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति भी आयु के समान हो जाती है। अधिक स्थिति वाले वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मों की स्थिति को आयु की स्थिति के बराबर करना ही समुद्घात रूप प्रयत्न का उद्देश्य है। लेकिन जिन सयोगिकेवली आत्माओं की वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मों की स्थिति आयु के बराबर है, वे समुद्घात करने का प्रयत्न नहीं करती हैं और बिना समुद्घात किये ही जरा-मरण आदि से रहित होकर मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेती हैं।

जब आयु का अन्तिम समय आता है तब ये सयोगिकेवलि आत्मायें योग-निमित्तक बंध का नाश करने के लिये योगनिरोध की प्रक्रिया की ओर उन्मुख होती हैं। अतएव प्रासंगिक होने से संक्षेप में योगनिरोध की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं।

योगनिरोध की प्रक्रिया

योगनिरोध करने वाली—वीर्यव्यापार को बन्द करने वाली आत्मा प्रथम बादर काययोग के बल से अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में बादर वचनयोग का निरोध करती है और उसका निरोध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी अवस्था में रहकर बादर काययोग के अवलम्बन से बादर मनोयोग का अन्तर्मुहूर्तकाल में निरोध करती है। वचनयोग और मनोयोग को रोकने हेतु अवलम्बन के लिये बादर काययोग वीर्यवान आत्मा का करण—उत्कृष्ट साधन माना है। यानि वचन, मन और काया द्वारा वीर्यव्यापार का रोध करने के लिये अवलम्बन की आवश्यकता होती है और उसके लिये काययोग अवलम्बन है। अतएव काय द्वारा होने वाले वीर्यव्यापार से पहले बादर वचनयोग और तत्पश्चात् बादर मनोयोग का रोध करती है।

बादर मनोयोग का रोध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी स्थिति में रहकर उच्छ्वासनिःश्वास को अन्तर्मुहूर्तकाल में रोकती है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त उसी स्थिति में रहकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा बादर काययोग का

रोध करती है। क्योंकि बादर काययोग रहने तक सूक्ष्म योग रोके नहीं जा सकते हैं तथा समस्त बादर योगों का निरोध होने के अनन्तर ही सूक्ष्म योगों का रोध होता है।

बादर काययोग को रोकती हुई आत्मा पूर्वस्पर्धकों के नीचे अपूर्वस्पर्धक करती है। अर्थात् पहले जो अधिक वीर्यव्यापार वाले स्पर्धकों को करती थी, अब यहाँ अत्यन्त हीन वीर्यव्यापार वाले अपूर्वस्पर्धकों को करती है। क्योंकि पूर्व में इस प्रकार के अत्यन्त हीन वीर्याणु वाले स्पर्धक किसी काल में नहीं किये थे, इसीलिये इस समय किये जाने वाले स्पर्धक अपूर्व कहलाते हैं। उसमें पूर्व-स्पर्धकों की जो पहली दूसरी आदि वर्गणायें हैं, उनमें जो वीर्याविभाग-परिच्छेद-वीर्याणु होते हैं, उनके असंख्यात भागों को खींचती है और एक असंख्यातवाँ भाग शेष रखती है और जीवप्रदेशों में का एक संख्यातवां भाग खींचती है और शेष सबको रखती है। यानि इतनी संख्या वाले जीवप्रदेशों में से पूर्वोक्त वीर्यव्यापार को रोकती है। बादर काययोग का रोध करने पर पहले समय में इस प्रकार की क्रिया होती है।

तत्पश्चात् दूसरे समय में पहले समय में खींचे गये असंख्यातभागप्रमाण जीवप्रदेशों में से असंख्यातगुण जीवप्रदेश खींचती है। अर्थात् प्रथम समय में एक भाग खींचा था, किन्तु दूसरे समय में असंख्यात भाग खींचती है—इतने अधिक जीवप्रदेशों में से वीर्यव्यापार को रोकती है तथा पहले समय में जो वीर्याणु खींचे थे उनसे असंख्यातगुणहीन यानि असंख्यातवें भाग प्रमाण वीर्याणुओं को खींचती है। तात्पर्य यह हुआ कि पहले समय की अपेक्षा असंख्यातवें भाग प्रमाण वीर्यव्यापार को रोकती है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यातगुण, असंख्यातगुण आत्मप्रदेशों में से पहले समय में रोके गये वीर्य व्यापार की अपेक्षा पीछे-पीछे के समय में असंख्यातगुणहीन-असंख्यातगुणहीन वीर्यव्यापार रोकती हुई वहाँ तक जाती है कि जब अपूर्वस्पर्धक करने के अन्तर्मुहूर्त का चरम समय प्राप्त होता है।

इस अन्तर्मुहूर्त काल में अत्यन्त अल्प वीर्यव्यापार वाले सूचिश्रेणि के वर्ग-

मूल के असंख्यातवें भागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक होते हैं। शेष पूर्वस्पर्धक रूप ही रहते हैं। सभी पूर्वस्पर्धक अपूर्वस्पर्धक नहीं होते हैं।

अपूर्वस्पर्धक करने के अन्तर्मुहूर्त के उत्तरवर्ती समय में किट्टि करने की शुरुआत होती है, वह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होती है। एक-एक वीर्याणु की वृद्धि का नाश करके यानि अधिक-अधिक वीर्याणु वाली वर्गणाओं का क्रम से नाश करके अनन्तगुणहीन वीर्याणु वाली एक-एक वर्गणा को रखने के द्वारा योग को अल्प करने को किट्टि कहते हैं। किट्टि करने के प्रथम समय में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों गत पहली आदि वर्गणाओं के अविभाग परिच्छेदों—वीर्याणुओं के असंख्यातवें भागों को खींचती है और एक असंख्यातवां भाग शेष रखती है तथा जीवप्रदेशों का भी असंख्यातवां भाग खींचती है और शेष सभी भागों को रखती है। इसका तात्पर्य यह है कि जितने जीवप्रदेशों को खींचती है, उतने जीवप्रदेशों में से जितने वीर्याणु खींचती है उतने वीर्याणुप्रमाण वीर्यव्यापार को रोकती है। यह किट्टिकरण के पहले समय की क्रिया है।

दूसरे समय में पूर्व में खींचे गये वीर्याविभाग परिच्छेद—वीर्याणु के भाग से असंख्यातगुणहीन वीर्याणुओं के भाग को खींचती है और जीवप्रदेशों के पहले समय में खींचे गये जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भाग से असंख्यातगुण भागों को यानि असंख्यात भागों को खींचती है। इस प्रकार की किट्टियां अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक करती है।

पहले समय में की गई किट्टियो से दूसरे समय में की गई किट्टियां असंख्यात-गुणहीन हैं। इसी प्रकार शेष सभी समयों के लिये जानना चाहिये। यहाँ गुणा-कार पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। पहले समय में की गई कुल किट्टियां सूचिश्रेणि का असंख्यातवां भाग प्रमाण हैं। इसी प्रकार दूसरे आदि प्रत्येक समयों के लिये भी समझना चाहिये, परन्तु वे उत्तरोत्तर हीन-हीन हैं और सभी किट्टियों का कुल योग भी सूचिश्रेणि का असंख्यातवां भागमात्र है।

किट्टियां करने की क्रिया पूर्ण होने के बाद भी पूर्वस्पर्धक और अपूर्व-स्पर्धक शेष रहते हैं। सभी की किट्टियां नहीं होती हैं। किट्टि करने की क्रिया पूर्ण होने के पश्चात् पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक का नाश करती है। जिस

समय उनका नाश हुआ, उस समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आत्मा किट्टिगत-योग—किट्टिरूप योग वाली होती है। उस अन्तर्मुहूर्त में कुछ भी क्रिया नहीं करती है, परन्तु उसी स्थिति में रहती है। उसके बाद के समय में सूक्ष्म काय-योग के अवलम्बन से अन्तर्मुहूर्त काल में सूक्ष्म वचनयोग का रोध करती है। सूक्ष्म वचनयोग का रोध करने के बाद अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी अवस्था में रहती है। किसी भी अन्य सूक्ष्म योग को रोकने का प्रयत्न नहीं करती है।

उसके बाद के समय में सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्म मनोयोग को अन्तर्मुहूर्त काल में रोकती है। उसके बाद भी अन्तर्मुहूर्त तदवस्थ रहती है। उसके बाद सूक्ष्म काययोग को अन्तर्मुहूर्त काल में रोकती है। उस सूक्ष्म काय-योग को रोकने की क्रिया करती हुई वह सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यान पर आरूढ़ होती है। इस ध्यान की सहायता से मुख, उदर आदि का पोला भाग आत्मप्रदेशों से पूरित हो जाता है और शरीर के एक तृतीयांश भाग में से आत्मप्रदेश सिकुड़कर शरीर के दो तृतीयांश भाग में रहने योग्य प्रदेश वाले हो जाते हैं।

सूक्ष्म काययोग को रोकती हुई आत्मा पहले समय में किट्टियों के असंख्यात भागों का नाश करती है और एक भाग शेष रखती है। फिर शेष रहे एक भाग के भी असंख्यात भाग करके एक भाग को शेष रख बाकी सभी भागों को दूसरे समय में नाश करती है। इस प्रकार समय-समय किट्टियों का नाश करती हुई सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक जाती है और चरम समय में जितनी किट्टियां रही हों उनका नाश कर आत्मा अयोगिकेवलीगुणस्थान में जाती है। सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में सभी कर्म अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल जितनी स्थिति वाले हो जाते हैं, मात्र जिन कर्मप्रकृतियों का अयोगि-केवलीगुणस्थान में उदय नहीं है, उनकी स्थिति स्वरूपसत्ता की अपेक्षा समय-न्यून रहती है। सत्ताकाल की अपेक्षा सामान्यतया प्रत्येक प्रकृति का सत्ताकाल अयोगिगुणस्थान के समान होता है।

सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति ध्यान, सभी किट्टियों, सातावेदनीय के बंध, नाम और गोत्रकर्म की उदीरणा, योग,

शुक्ललेश्या, स्थिति और रस का घात इन सात पदार्थों का एक साथ नाश होता है और उसके बाद के समय में आत्मा अयोगिकेवली हो जाती है।

इस अयोगिकेवलीगुणस्थान में आत्मा कर्मों का क्षय करने के लिये व्युपरत-क्रिया-अनिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यान पर आरूढ़ होती है। इस समय में स्थितिघात, रसघात, उदीरणा आदि किसी भी प्रयत्न के बिना अयोगिकेवली भगवान जिन कर्मों का उदय है, उनको भोग द्वारा क्षय करते हैं और जिन कर्मों का यहाँ उदय नहीं है, उनको वेद्यमान प्रकृति में स्तिबुकसंक्रम के द्वारा संक्रांत करते हुए अथवा स्तिबुकसंक्रम द्वारा वेद्यमान प्रकृति रूप से अनुभव करते हुए वहाँ तक जाते हैं, जब अयोगिकेवलीगुणस्थान का द्विचरम समय आता है। इस द्विचरम समय में देवद्विक आदि बहत्तर वेदनीय पर्यन्त बहत्तर प्रकृतियों का और शेष उदयवती तेरह प्रकृतियों का चरम समय में क्षय हो जाने पर परिपूर्ण रूप से निष्कर्म हुई आत्मा एक समयमात्र में इषुगति से गमन कर लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाती है और अनन्तकाल उसी रूप में स्थित रहती है।

समुद्घात रूप प्रयत्न से प्रारम्भ हुई प्रक्रिया का यह अन्तिम निष्कर्ष है।

१२

दिगम्बर साहित्य में गुणस्थानों में योग-उपयोग

निर्देश

गुणस्थानों के चौदह नाम दोनों परम्पराओं में समान है। दिगम्बर परंपरानुसार उनमें प्राप्त योगों का विवेचन इस प्रकार है—

तीन में तेरह-तेरह, एक में दस, सात में नौ, एक में ग्यारह, एक में सात योग क्रमशः जानना चाहिये। अयोगिकेवलीगुणस्थान में कोई भी योग नहीं पाया जाता है। पृथक्-पृथक् गुणस्थानों में प्राप्त योगों का निरूपण नीचे लिखे अनुसार है—

मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में आहारकद्विक के बिना शेष तेरह योग होते हैं।

तीसरे मिश्रगुणस्थान में औदारिक-वैक्रिय-काययोगद्वय तथा सत्य, असत्य, उभय, अनुभय ये चारों मनोयोग और यही चारों वचनयोग, कुल मिलाकर दस योग होते हैं।

इन दस योगों में से वैक्रियकाययोग को छोड़कर शेष नौ योग पांचवें देशविरत तथा अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह और क्षीणमोह इन सात गुणस्थानों में होते हैं। जिनके नाम हैं— औदारिककाययोग, मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय।

छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान में इन योगों के साथ आहारकद्विक को मिलाकर कुल ग्यारह योग पाये जाते हैं।

सयोगिकेवलीगुणस्थान में सत्य, असत्यामृषा मनोयोगद्वय, सत्य, असत्यामृषा वचनयोगद्वय तथा औदारिकद्विक एवं कार्मण ये तीन काययोग इस प्रकार

कुल सात योग होते हैं। अयोगिकेवलीगुणस्थान में योग का अभाव होने से कोई भी योग नहीं होता है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में योगों को जानना चाहिये। अब उपयोग का निर्देश करते हैं।

गुणस्थानों में उपयोग—

मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों में मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग पाये जाते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत इन दो गुणस्थानों में आदि के तीन ज्ञान—मति-श्रुत-अवधि ज्ञान और आदि के तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये छह उपयोग होते हैं। तीसरे मिश्रगुणस्थान में भी यही छह उपयोग हैं, किन्तु अज्ञान से मिश्रित जानना चाहिये।

छठे प्रमत्तविरत से लेकर बारहवें क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानों में आदि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन एवं अवधिदर्शन इस प्रकार कुल सात उपयोग होते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग पाये जाते हैं।

गुणस्थानों में प्राप्त उपयोगों का कथन उक्त प्रकार से जानना चाहिये।

□□

१३

दिगम्बर कर्मग्रन्थों में वर्णित मार्गणास्थानों में जीवस्थान

मार्गणास्थानों के अवान्तर बासठ भेदों में प्राप्त चौदह जीवस्थान इस प्रकार बतलाये हैं—

गतिमार्गणा की अपेक्षा तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्रकार के जीव होने से सभी चौदह जीवस्थान होते हैं तथा शेष देव, मनुष्य और नरक गति में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त रूप दो-दो जीवस्थान जानना चाहिये।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रियों में बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त ये चार जीवस्थान होते हैं। विकलेन्द्रियत्रिक में द्वीन्द्रिय पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, ये छह जीवस्थान होते हैं और अपनी-अपनी अपेक्षा प्रत्येक में दो-दो जीवस्थान समझना चाहिये। पंचेन्द्रिय में असंज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त, संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त ये चार जीवस्थान होते हैं।

कायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वी आदि पांचों स्थावर कायों में से प्रत्येक में बादर सूक्ष्म और ये दोनों भी पर्याप्त-अपर्याप्त इस प्रकार चार-चार जीवस्थान जानना चाहिये। त्रस जीवों में से विकलत्रयों में प्रत्येक के पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो-दो जीवस्थान जानना चाहिये तथा सकलेन्द्रियों (पंचेन्द्रियों) में संज्ञी, असंज्ञी और उनके पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे दो-दो मिलकर कुल चार जीवस्थान पाये जाते हैं।

योगमार्गणा में असत्यामृषावचनयोग को छोड़कर शेष तीन वचनयोगों में और चारों मनोयोगों में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये।

असत्यामृषावचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय—ये पांच जीवस्थान होते हैं। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग में सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सातों अपर्याप्तक तथा संज्ञी पर्याप्तक ये आठ जीवस्थान होते हैं तथा औदारिककाययोग में सातों पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये। वैक्रियकाययोग, आहारकद्विककाययोग में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान तथा वैक्रियमिश्रकाययोग में एक संज्ञी अपर्याप्तक जीवस्थान होता है।

वेदमार्गणा की अपेक्षा स्त्रीवेद और पुरुषवेद में संज्ञी-असंज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये चार जीवस्थान होते हैं तथा नपुंसकवेद और कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायों में सभी चौदह जीवस्थान जानना चाहिये।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान में चौदह जीवस्थान होते हैं तथा मति, श्रुत और अवधि ज्ञान में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीवस्थान पाये जाते हैं तथा विभंगज्ञान, मनपर्याय और केवलज्ञान में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होता है।

केवलज्ञान में विशेषापेक्षा संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त ये दो जीवस्थान भी माने जा सकते हैं और यह अपर्याप्तता सयोगिकेवलियों क समुद्घात अवस्था में पाई जाती है। इसी दृष्टि से दो जीवस्थान समझना चाहिये। अन्यथा सामान्य से एक संज्ञी पर्याप्त जीवस्थान होता है।

संयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात और देशविरत इन छहों में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये। असंयम में सभी चौदह जीवस्थान पाये जाते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षुदर्शन में पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय असंज्ञी, संज्ञी ये छह और अचक्षुदर्शन में सभी चौदह जीवस्थान पाये जाते हैं। अवधिदर्शन में संज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवस्थान होते हैं। केवलदर्शन में एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान होता है। यदि सयोगिकेवली की समुद्घात अवस्था की अपेक्षा विचार किया जाये तो संज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान भी सम्भव होने से केवलदर्शन में दो जीवस्थान माने जायेंगे।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीनों अशुभ लेश्याओं में चौदह तथा तेज, पद्म और शुक्ल इन शुभ लेश्यात्रिक में संज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवस्थान पाये जाते हैं।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य और अभव्य के सभी चौदह जीवस्थान होते हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीनों सम्यग्दर्शनों में संज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये दो-दो जीवस्थान होते हैं। विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण नहीं होने से एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होगा। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में मनुष्य की अपेक्षा संज्ञी पर्याप्त और देवों की अपेक्षा संज्ञी अपर्याप्त—इस प्रकार दो जीवस्थान होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में संज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान मानने का कारण यह है भवनत्रिक को छोड़कर देवों के, प्रथम पृथ्वी के नारकों के तथा भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों के अपर्याप्त अवस्था में भी वह सम्भव है। बद्धायुष्क प्रथम पृथ्वी के नारकों, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों और वैमानिक देवों को अपर्याप्त अवस्था में भी क्षयिकसम्यक्त्व सम्भव होने से क्षायिकसम्यक्त्व में संज्ञी पर्याप्त, अपर्याप्त ये दो जीवस्थान माने जाते हैं।

सासादनसम्यक्त्व में विग्रहगति की अपेक्षा सातों अपर्याप्तक और संज्ञी पर्याप्तक ये आठ जीवस्थान होते हैं। मिश्रसम्यक्त्व में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान तथा मिथ्यात्व में सभी जीवस्थान जानना चाहिए।

संज्ञीमार्गणा की अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रियों में संज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवस्थान पाये जाते हैं तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियों में संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्बन्धी दो जीवस्थानों को छोड़कर शेष जीवस्थान होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवों में सभी चौदह जीवस्थान और अनाहारक जीवों में सातों अपर्याप्तक और एक संज्ञी पर्याप्तक कुल मिलाकर आठ जीवस्थान होते हैं।

इस प्रकार मार्गणास्थानों में जीवस्थानों की प्राप्ति का कथन समझना चाहिये।

१४

दिगम्बर साहित्य में निर्दिष्ट मार्गणास्थानों में गुणस्थान

मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की प्राप्ति का विवरण इस प्रकार है—

गतिमार्गणा की अपेक्षा नरकगति और देवगति में पहले मिथ्यात्व से चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त चार गुणस्थान, तिर्यंचगति में मिथ्यात्वादि देशविरत पर्यन्त पांच गुणस्थान तथा मनुष्यगति में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। यहां इतना विशेष है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में पर्याप्तकाल में एक मिथ्यात्व गुणस्थान तो सदैव होता है तथा उक्त जीवों में सासादनगुणस्थान किसी-किसी को निवृत्यपर्याप्तक दशा में सम्भव है। इसीलिये एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में दो गुणस्थान माने जाते हैं। पंचेन्द्रिय में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

कायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय जीवों में आदि के दो गुणस्थान होते हैं तथा तेजस्काय और वायुकाय के जीवों में मिथ्यात्वगुणस्थान होता है। क्योंकि सासादनस्थ जीव मरकर तेज और वायु काय जीवों में उत्पन्न नहीं होते हैं तथा त्रसकायिक जीवों में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

योगमार्गणा की अपेक्षा प्रथम और अन्तिम (सत्य और असत्यामृषा) मनोयोगद्वय और वचनयोगद्वय तथा औदारिककाययोग में सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। मध्य के दोनों मनोयोगों और वचनयोगों में क्षीण-

कषाय तक के बारह गुणस्थान पाये जाते हैं। वैक्रियकाययोग में मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा वैक्रियमिश्रकाय में मिश्रगुणस्थान को छोड़कर आदि के तीन गुणस्थान पाये जाते हैं। उनके नाम हैं—मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग में एक छठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग में मिथ्यात्व, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि और सयोगिकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं।

वेदमार्गणा की अपेक्षा तीनों वेदों में तथा कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों में मिथ्यात्व आदि अनिवृत्तिबादर पर्यन्त नौ गुणस्थान तथा लोभकषाय में आदि के मिथ्यात्व से लेकर सूक्ष्मसम्पराय पर्यन्त दस गुणस्थान पाये जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा अज्ञानत्रिक अर्थात् मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान वाले जीवों के आदि के दो गुणस्थान होते हैं। ज्ञानत्रिक—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान वाले जीवों में असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर नौ गुणस्थान अर्थात् चौथे से बारहवें तक के नौ गुणस्थान होते हैं। मनपर्यायज्ञान वाले जीवों के छठे प्रमत्तसंयत को आदि लेकर बारहवें क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणा वाले जीवों के अन्तिम दो सयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान होते हैं।

संयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम वाले जीवों के प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान होते हैं। यथाख्यातसंयम वाले जीवों के उपशांतमोह आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा सूक्ष्मसम्परायसंयम वाले जीवों के एक सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवां और देशसंयम वालों के देशविरत नामक पांचवां गुणस्थान होता है। असंयत जीवों के मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा परिहारविशुद्धिसंयम वाले के प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान होते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीवों के मिथ्यात्व आदि क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं तथा अवधिदर्शन वाले जीवों के

असंयतसम्यग्दृष्टि को आदि लेकर क्षीणमोह पर्यन्त नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। केवलदर्शनमार्गणा के लिये पूर्व में संकेत किया जा चुका है।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्या वाले जीवों के मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान, शुक्ललेश्या वालों के मिथ्यात्व आदि तेरह गुणस्थान तथा तेज और पद्मलेश्या वालों के मिथ्यात्व से अप्रमत्तसंयत पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य जीवों के मिथ्यात्व से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली को भव्य-व्यपदेश नहीं होता है इसीलिये भव्य जीवों के आदि के बारह गुणस्थान माने जाते हैं। अभव्य जीवों के तो एकमात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्वी जीवों के चौथे अविरत सम्यक्त्व से लेकर उपशांतमोह पर्यन्त आठ गुणस्थान तथा क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीवों के अविरतसम्यक्त्व से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवों के अविरतसम्यक्त्व आदि चार गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्वादित्रिक में उस-उस नाम वाला एक-एक ही गुणस्थान होता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टियों में पहला मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनसम्यग्दृष्टियों में सासादन नामक दूसरा गुणस्थान और सम्यग्मिथ्यादृष्टियों में सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरा गुणस्थान होता है।

संज्ञीमार्गणा की अपेक्षा संज्ञी जीवों के मिथ्यात्वादि क्षीणकषायान्त बारह गुणस्थान तथा असंज्ञी जीवों में मिथ्यात्वादि दो गुणस्थान होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवों के मिथ्यात्वादि सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान तथा अनाहारक जीवों के मिथ्यात्व, सासादन, अविरत-सम्यग्दृष्टि और सयोगिकेवली, अयोगिकेवली ये पांच गुणस्थान जानना चाहिये।

इस प्रकार मार्गणाओं में गुणस्थानों का विधान है।

卐

चतुर्दश गुणस्थानों में योगों का प्रारूप

गुणस्थान	सत्य मनोयोग	असत्य मनोयोग	सत्यासत्य मनोयोग	असत्यामृषा मनोयोग	सत्य वचनयोग	असत्य वचनयोग	सत्यासत्य वचनयोग	असत्यामृषा वचनयोग	वैक्रियमिश्र काययोग	वैक्रिय काययोग	आहारकमिश्र काययोग	आहारक काययोग	औदारिकमिश्र काययोग	औदारिक काययोग	कार्मण काययोग	कुल योग
मिथ्यादृष्टि	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	१३
सासादन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	१३
सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र)	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	०	०	१	०	१०
अविरत सम्यग्दृष्टि	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	१३
देशविरति	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	०	०	१	०	११
प्रमत्तसंयत	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	१३
अप्रमत्तसंयत	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	१	०	१	०	११
अपूर्वकरण	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
अनिवृत्तिबादर संपराय	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
सूक्ष्म सम्पराय	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
उपशांतमोह	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
क्षीणमोह	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
सयोगिकेवली	१	०	०	१	१	०	०	१	०	०	०	०	१	१	१	७
अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
कुल गुणस्थान	१३	१२	१२	१३	१३	१२	१२	१३	५	७	१	२	३	१०	४	

चतुर्दश गुणस्थानों में उपयोगों का प्रारूप

गुणस्थान	मतिअज्ञान	श्रुतज्ञान	विभंगज्ञान	मतिज्ञान	श्रुतज्ञान	अवधिज्ञान	मनपर्ययज्ञान	केवलज्ञान	चक्षुदर्शन	अचक्षुदर्शन	अवधिदर्शन	केवलदर्शन	कुल उपयोग
मिथ्यादृष्टि	१	१	१	०	०	०	०	०	१	१	०	०	५
सासादन	१	१	१	०	०	०	०	०	१	१	०	०	५
मिश्र	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	०	९
अविरत सम्यग्दृष्टि	०	०	०	१	१	१	०	०	१	१	१	०	६
देशविरत	०	०	०	१	१	१	०	०	१	१	१	०	६
प्रमत्तसंयत	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
अप्रमत्तसंयत	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
अपूर्वकरण	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
अनिवृत्ति बादरसम्पराय	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
सूक्ष्मसम्पराय	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
उपशांतमोह	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
क्षीणमोह	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
सयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	१	२
अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	१	२
कुल गुणस्थान	३	३	३	१०	१०	१०	७	२	१२	१२	१०	२	

मार्गणाओं में जीवस्थानों का प्रारूप

मार्गणा	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त	एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	कुल जीवस्थान
नरकगति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
तिर्यंचगति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
मनुष्यगति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
												१			३
देवगति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
एकेन्द्रिय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
द्वीन्द्रिय	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रीन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	२
चतुरिन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	२
पंचेन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
पृथ्वीकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
अप्काय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
तेजस्काय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
वायुकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
वनस्पतिकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
मनोयोग	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
													१	१	२
वचनयोग	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	८
					०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	५
					१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१०
काययोग	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
स्त्रीवेद	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
पुरुषवेद	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४

मार्गणा	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त	एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	कुल जीवस्थान
नपुंसकवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
क्रोध	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
मान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
माया	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
लोभ	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
मतिअज्ञान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
श्रुत अज्ञान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
विभंगज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
													१	१	२
मतिज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१
श्रुतज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
अवधिज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
मनपर्यवज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
केवलज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
सामायिक चारित्र	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
छेदोपस्थापनीय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
परिहारविशुद्धि	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
सूक्ष्म सम्पराय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
यथाख्यात	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
देशविरति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
अविरति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
चक्षुदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	०	१	१	३
									१			१			४
अचक्षुदर्शन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४

मार्गणा	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त	एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	कुल जीवस्थान
अवधिदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
केवलदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
कृष्णलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
नीललेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
कापोतलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
तेजोलेश्या	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	३
पद्मलेश्या	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
शुक्ललेश्या	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
भव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
अभव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
क्षायिक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
क्षायोपशमिक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
औपशमिक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
मिश्र	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
सासादन	०	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	१	७
मिथ्यात्व	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
संज्ञी	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
असंज्ञी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
आहारी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
अनाहारी	१	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	१	८

विशेष

सामान्य से मनोयोग वाले जीवों के वचन व काययोग और वचनयोग वालों के काययोग होता है। जिससे काययोग में चौदह, वचनयोग में एकेन्द्रिय के चार भेद बिना शेष दस और मनोयोग में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो जीव-भेद होते हैं। परन्तु यहां मनोयोग वालों के वचनयोग और काययोग की तथा वचनयोग वालों के काययोग की गौणता मानकर मनोयोग में दो, वचनयोग में आठ और काययोग में चार जीवस्थान का संकेत किया है।

लेकिन छठी गाथा में लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा होने से और उनके क्रिया का समाप्ति काल न होने से उसकी गौणता मान लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार भेद में वचनयोग और संज्ञी-अपर्याप्त में मनोयोग की विवक्षा नहीं की है, जबकि यहाँ लब्धि-पर्याप्त की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्त अवस्था में उन लब्धि-पर्याप्त जीवों के करण-पर्याप्त जीवों की तरह क्रिया का प्रारम्भ काल और समाप्ति काल एक मान अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार में भी वचनयोग और संज्ञी-अपर्याप्त में मनोयोग कहा है तथा मनोयोग की प्रधानता वाले जीवों के वचन व काययोग की और वचनयोग की प्रधानता वालों के काययोग की गौणता मानकर छठी गाथा के अनुसार लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा करें और वहाँ बताये गये अनुसार योग घटित करें तो मात्र संज्ञी पर्याप्त रूप एक जीवभेद में मनोयोग, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय इन चार में वचनयोग और शेष नौ जीवभेदों में काययोग होता है।

मार्गणाओं में गुणस्थानों का प्रारूप

मार्गणा	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	सास्वादन	सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र)	अविरत सम्यग्दृष्टि	देशविरति	प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत	अपूर्वकरण	अनिवृत्तिबादरसंपराय	सूक्ष्मसंपराय	उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ	सयोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल गुणस्थान
नरकगति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
तिर्यंचगति	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
मनुष्यगति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
देवगति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
एकेन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
द्वीन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रीन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
चतुरिन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
पंचेन्द्रिय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
पृथ्वीकाय	१	१	०	०	०	०	०	०	●	०	०	०	०	०	२
अप्काय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
तेजस्काय	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
वायुकाय	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
वनस्पतिकाय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रसकाय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
मनोयोग	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
वचनयोग	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
काययोग	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
स्त्रीवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
पुरुषवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
नपुंसकवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
क्रोध	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
मान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९

मार्गणा	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	सास्वादन	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	अविरत-सम्यग्दृष्टि	देशविरत	प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत	अपूर्वकरण	अनिवृत्तिबादरसंपराय	सूक्ष्मसंपराय	उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ	सयोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल गुणस्थान
माया	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	१०
लोभ	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	११
मतिअज्ञान	१	१	० १	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२ ३
श्रुतअज्ञान	१	१	० १	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२ ३
विभंगज्ञान	१	१	० १	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२ ३
मतिज्ञान	०	०	१ ०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१० ९
श्रुतज्ञान	०	०	१ ०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१० ९
अवधिज्ञान	०	०	१ ०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१० ९
मनपर्यवज्ञान	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	०	०	७
केवलज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
सामा. चारित्र	०	०	०	०	०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	४
छेदोपस्थापनीय	०	०	०	०	०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	४
परिहारविशुद्धि	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	०	२
सूक्ष्म सम्पराय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	०	१
यथाख्यात	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
देशविरति	०	०	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
अविरति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
चक्षुदर्शन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२

मार्गणा	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	सास्वादन	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	अविरति सम्यग्दृष्टि	देशविरति	प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत	अपूर्वकरण	अनिवृत्तिबादर संपराय	सूक्ष्म संपराय	उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ	सयोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल गुणस्थान
अचक्षुदर्शन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
अवधिदर्शन	० १	० १	० १	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	९ १२
केवलदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
कृष्णलेश्या	१	१	१	१	० १	० १	०	०	०	०	०	०	०	०	४ ६
नीललेश्या	१	१	१	१	० १	० १	०	०	०	०	०	०	०	०	४ ६
कापोतलेश्या	१	१	१	१	० १	० १	०	०	०	०	०	०	०	०	४ ६
तेजोलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	७
पद्मलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	७
शुक्ललेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
भव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
अभव्य	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
क्षायिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	११
क्षायोपशमिक	०	०	०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
औपशमिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	८
मिश्र	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
सासादन	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
मिथ्यात्व	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
सज्ञी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
असंज्ञी	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
आहारी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
अनाहारी	१	१	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	५

योगोपयोग-मार्गणा अधिकार की गाथा-अकाराद्यनुक्रमणिका

गाथांश	गा. सं./पृ.	गाथांश	गा. सं./पृ.
अचक्खु चक्खु दंसण	१६।१५७	दस तसकाए चउ चउ	२३।१६७
अज्जोगो अज्जोगी	१८।१२६	दुसु नाण-दंसणाइं	२६।१७८
अन्नाणतिगं नाणाणि	५।३०	दो मइसुय ओहि दुगे	२७।१८०
अपमत्तुवसन्त अजोगि	३३।२००	नमिउण जिणं वीरं	१।३
अपुव्वाइसु सुक्का नत्थि	३१।१६०	मइसुय अन्नाण अचक्खु	८।७२
अभव्विएसु पढमं	३२।१६८	मणनाण विभंगेसु	११।८२
आहारगेसु तेरस	३४।२०२	मणुयगईए बारस	१३।११०
आहारदुगं जावइ	१२।८२	मिस्संमि वा मिस्सं	२०।१५७
इगि विगल थावरेसु	६।८२	लद्धीए करणेहि य	७।६५
एत्थ य जोगुवयोग.ण	३।१०	विगलासन्निपज्जत्तएसु	६।४६
कम्मुरलदुगमपज्जे	०।६८	वेउव्विणा जुया ते	१७।१२६
गइ इंदिए य काए	२१।१६२	सच्चमसच्चं उभयं	४।१६
चउ चउ पुमित्थि वेस	२४।१७०	सच्चा असच्चमोसा	१०।८२
जा बायरो ता वेएसु	३०।१८६	सम्मत्त कारणेहिं	१५।११४
जोए वेए सन्नी	१४।११०	सयगाइ पंचगंथा	२।६
जोगाहार दुगूणा	१६।१२६	सुरनारएसु चत्तारि	२८।१८५
तिरियगइए चोद्स	२२।१६४	सव्वेसु वि मिच्छो	२६।१८८
तेउलेसाइसु दोन्नि	२५।१७१		

विवेचन में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अनुयोग द्वार हरिभद्रीया टीका
आचारांग सूत्र टीका
आप्तपरीक्षा
आवश्यक निर्युक्ति
कर्मप्रकृति (कम्मपयडी)
कर्मस्तव-गोविन्दाणि वृत्ति
कषायपाहुड़
गोम्मटसार-जीवकाण्ड
तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वार्थराजवार्तिक
तत्त्वार्थभाष्य
द्रव्यसंग्रह
नन्दी सूत्र टीका
नियमसार
पंचसंग्रह-स्वोपज्ञवृत्ति
पंचसंग्रह-मलयगिरि टीका
पंचसंग्रह (दिगम्बर)
पंचसंग्रह प्राकृत वृत्ति
पंचाध्यायी
प्रमेयकमल मार्तण्ड
प्रवचनसार
प्रवचनसारोद्धार
प्रज्ञापना सूत्र
प्रज्ञापना चूर्णि
प्रशमरति प्रकरण
बृहत्संग्रहणी
भगवती सूत्र
लोकप्रकाश
षट्खंडागम धवला टीका
समवायांग सूत्र
सर्वार्थसिद्धि